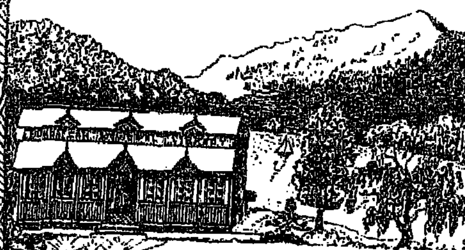


सत्साहित्य-प्रकाशन

विनोबा के जंगम विद्यापीठ में

कुंवर विद्याण

●

१९६०
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९६०
मूल्य
अढ़ाई रुपया

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में विभिन्न विषयों पर विनोबाजी के साथ हुई चर्चाएं दी गई हैं। विनोबाजी पिछले नौ सालों से भूदान के सिलसिले में पैदल घूम रहे हैं और उनके ज्ञान और चिन्तन का लाभ बहुत-से लोगों को मिल रहा है। सच बात यह है कि विनोबाजी एक चलते-फिरते विद्यालय हैं और उनके साथ सीखने को जितना मिलता है, उतना किसी भी शिक्षा-संस्था में पाना असम्भव है।

विनोबाजी की चर्चाएं बड़ी महत्वपूर्ण होती हैं। छोटी-से-छोटी बात को भी जब वह बताते हैं तो उसपर उनके गहरे चिन्तन की छाप होती है।

इस पुस्तक में बीसियों विषयों पर विनोबाजी के विचार पाठकों को पढ़ने को मिलेंगे। उनसे एक ओर ज्ञान में वृद्धि होगी तो दूसरी ओर व्यापक दृष्टि से सोचने की प्रेरणा मिलेगी।

हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि इस पुस्तक को जो भी पढ़ेगा वह अवश्य लाभान्वित होगा। आवश्यकता इस बात की है कि यह पुस्तक अधिक-से-अधिक पाठकों के हाथों में पहुंचे। आशा है, इसमें हमें विज्ञ पाठकों का सहयोग मिलेगा।

—मंत्री

प्रस्तावना

सन् १९३२ में धुलिया-जेल में क्रमशः अठारह रविवारों को गीता के अठारह अध्यायों पर विनोबाजी के अठारह प्रवचन हुए। यह अमर साहित्य स्वर्गीय साने गुरुजी की कृपा से लिपिबद्ध होकर दुनिया को मिला। ये प्रवचन मूल में मराठी में दिये गए थे। उनका अब हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अंग्रेजी में भी उनका उल्था हो चुका है और अन्य पश्चिमी तथा पूर्वी भाषाओं में उनका अनुवाद होना असम्भव नहीं।

लेकिन गीता पर विनोबाजी के ये पहले ही प्रवचन नहीं हैं। सन् १९२१ के अन्त में साबरमती-प्राश्रम में नदी के किनारे छोटी-सी विनोबा-कुटी के बरामदे में रोज सायंकाल उनके ऐसे ही प्रवचन हुआ करते थे। उन प्रवचनों का जादू नये-नये शुरू हुए गुजरात विद्यापीठ के नौजवान छात्रों के मन पर ऐसा छा गया था कि छात्र हर रोज संध्या के समय तीन-चार मील पैदल चलकर उन प्रवचनों को सुनने आया करते थे और अंधेरी रात में वापस जाया करते थे। मैं खुद उन दिनों साबरमती के आश्रम में ही रहता था और मैं भी आग्रहपूर्वक उन प्रवचनों से लाभ उठाता था। मैं कोई भी पुस्तक, पत्र-व्यवहार या नोट्स का संग्रह अपने पास नहीं रखता हूं। फिर भी उन प्रवचनों के मोड़ी लिपि में लिखे हुए नोट्स आज भी मेरे पास मौजूद हैं। उन प्रवचनों की छाप उन छात्रों के तथा मेरे आगे के जीवन पर कुछ तो पड़ी ही होगी, फलतः उन जीवनों के द्वारा उन प्रवचनों का एक मूक या अव्यक्त प्रचार भी हुआ होगा। फिर भी मानना पड़ेगा कि साने गुरुजी की उपस्थिति में हुए प्रवचनों की जो कद्र हुई उसकी तुलना में हमने उन प्रवचनों की ज़रा भी कद्र नहीं की।

किन्तु ये प्रवचन सिर्फ सन् १९२१ में या १९३२ में ही हुए, सो बात नहीं। पिछले नौ साल से वे हर रोज दो-तीन बार ही नहीं, वरन् रोजाना पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे जारी रहे हैं। उनमें से कुछका टेप रेकॉर्डिंग होता है तथा नोट्स भी लिए जाते हैं और भारत के ग्यारह प्रदेशों में प्रथम साप्ताहिकों

द्वारा और पश्चात् पुस्तकाकार आम जनता के लिए मुहैया किये जाते हैं। फिर भी अधिकतर प्रवचन आठ-दस कानों में व हवा में विलीन हो जाते हैं। इस अनमोल साहित्य का, इन शास्त्रवचनों का, संकलन तथा प्रकाशन कौन करेगा ?

"यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि।"

—उन सन्तों की, महापुरुषों की, जो सहज बातें होती है वे ही शास्त्र बनती हैं। विशेषतः विनोबा की पदयात्रा में उनके दर्शन के लिए दूर-दूर से आनेवाले लोगों के साथ उनकी नाना विषयों पर अखण्ड सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम चर्चा चलती है। बहुत सारे लोग पांच-पांचसौ मील की दूरी से मिलने के लिए आते हैं और पदयात्रा के समय पांच-दस मिनट का मौका पाकर अपने-अपने प्रश्नों, शंकाओं, कठिनाइयों का हल हासिल करते हुए प्रकाश और प्रेरणा लेकर वापस लौटते हैं। कुंदरजी ने विनोबाजी की पदयात्रा को 'जंगम विद्यापीठ' नाम दिया है। लेकिन मुझे लगता है कि उससे यात्रा का पूरा मूल्यांकन नहीं होता।

धुलिया जेल में सभा में दिये गए प्रवचनों का संग्रह साने गुरुजी जैसे समर्थ लेखक ही कर सके। लेकिन इन चलते-दौड़ते प्रवचनों का संग्रह अपने स्मरण में से नियमित रूप से करने का विक्रम कुंदरजी ने किया। इस वास्ते हजारों पाठक कुंदरजी का अहसान मानेंगे।

इस संग्रह में से चार प्रवचन स्वयं मेरे लिए हुए हैं। इसलिए कुंदरजी ने अपनी इस पुस्तक के लिए प्रस्तावना लिखने का अनुरोध मुझसे ही किया है। लेकिन इससे मैं बहुत ही शर्मिन्दा हुआ हूं। उनका संग्रह करने की जिम्मेदारी खुद मेरी ही थी। लेकिन अपने हाथ आया हुआ यह प्रसाद मैंने लापरवाही से गंवाया। वह तो मेरे भी काम न आता, औरों की तो बात ही क्या ? किन्तु कुंदरजी की कृपा से वह सबके लिए सुलभ हो गया है। रसिक-भावुक लोग उसका यथेष्ट सेवन करें।

—अप्पा पटवर्धन

निवेदन

'बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।' यह शरण-त्रय सनातन काल से चला आ रहा है। संघ का शास्ता धर्म है और धर्म का वक्ता बुद्ध है। लेकिन यह बुद्ध अपने समय का चाहिए, वर्तमान समय का चाहिए। यह विचार नया नहीं है। गीता में वह पाया जाता है। विभूति बताते हुए भगवान् कहते हैं—"वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि।"—वासुदेव मेरी विभूति है। वासुदेव ही क्यों? क्योंकि वह वर्तमान है, विद्यमान है। धर्म तो सनातन ही है। लेकिन वर्तमान काल में उसका आचरण कैसे किया जाय, यह बताने का काम देव-पुरुष किया करते हैं। इन्हें कोई मसीह, कोई पैगंबर, कोई अवतार, कोई तीर्थंकर तो कोई बुद्ध कहते हैं। लेकिन हैं ये सभी देव-पुरुष ही और 'बुद्धं शरणं गच्छामि' में इन्हींकी शरण लेने की बात है। बुद्ध उन सभीका वाचक है।

हमारा यह परम सौभाग्य है कि ऐसा एक बुद्ध, ज्ञानी पुरुष, आज अपने देश में हमारे बीच विहार कर रहा है और हमारा पुरातन होते हुए भी नूतन धर्म जगत के कल्याण के हेतु प्रचारित कर रहा है। इस नये धर्म का नाम है सर्वोदय। इस सर्वोदय का भजन ही दुनिया के दुःखों का अक्सीर इलाज है, यह कहता हुआ, संकीर्तन करता हुआ, वह आसेतुहिमाचल चारिका कर रहा है।

"भजन याने सब देहों में भजन, अर्थात् ईश्वर-भावना से जीव-सेवा के जैसा कलियुग में दूसरा साधन नहीं है। भिन्न-भिन्न गुटबंदियों के झगड़े या कलह कलियुग का स्वरूप है।

"कलि शब्द का अर्थ ही है वह। इसलिए सर्वोदय के हेतु प्रयासरूप भजन ही उसका इलाज है। एक-दूसरे के वास्तविक हित या स्वार्थ आपस में टकराते नहीं, यह निज ज्ञान ही उसकी नींव है। उससे मुक्ति का मार्ग सहज ही खुल जाता है। फिर संकुचित खुदी मिट जायगी। आपस में सद्भाव जाग जायगा। सब ठौर सुख का उफान आयगा। ज्ञानदेव को निवृत्ति गुरु के चरण-

प्रसाद से प्राप्त पते का भजन है यह। उसीमें उसे सदा आनंद आता है। किसे न आयगा ?"

भूदान, संपत्तिदान, ग्रामदान आदि सब उसी सर्वोदय के नितनूतन अंकुर हैं। सर्वोदय-पात्र उसका बिलकुल नया अंकुर है। 'मुट्ठी भर अनाज और दुनियाभर में शान्ति' यह है उसकी महिमा। अणु में प्रचंड शक्ति रहा करती है। पर उसे प्रकट कराने की कुशलता चाहिए। यह सर्वोदय धर्म अणु ही है। उसकी शक्ति प्रकट करने की कुशलता सर्वोदय-पात्र में निहित है। विनोबाजी ने अणु भी दिया है और उसके विस्फोट का मार्ग भी बतलाया है। उन्होंने कल्याणकारी, शक्तिशाली तथा सर्वसुलभ साधन जनता को सौंप दिया है। इसके बाद उनका कार्य समाप्त हो गया है।

"तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।"

—यत्न करना तुम्हारा काम है तथागत तो केवल पथ-प्रदर्शक हैं।

इस मार्ग के पथिक जहां कहीं होंगे, वही 'संघ' है।

इस शरण-त्रयी का स्मरण करके विनोबाजी के पावन सान्निध्य में बिताये हुए कतिपय सप्ताहों की यह दैनंदिनी मैं पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूं। पदयात्रा में विनोबाजी के साथ जो चर्चाएं हुईं, उन्हींको यहां प्रधान रूप से अंकित किया गया है। २५-११-५७ को मैं विनोबाजी के पास पहुंचा और अगले दिन से लेकर १-१-५८ याने जिस दिन मैं उनसे बिदा हुआ, उस दिन तक की चर्चा यहां संकलित है। एक अखंडित समयावधि की यह दैनंदिनी है, इसलिए उसे यहां इकट्ठा किया है।

इसके बाद जब मैं फिर उनके पास गया तब फिर से चर्चा शुरू हुई। उसे स्वतंत्र रूप से संग्रहीत किया है। वह संकलन यथावसर प्रकाशित किया जायगा।

बौद्ध धर्म और पाली भाषा के अध्ययन के लिए मेरे श्रीलंका जाने के बारे में योजना बन रही थी। ऐसे अवसर पर विनोबा के पास रहने का मौका मिला, जिसको मैंने सहर्ष स्वीकार किया। जिसके लिए श्रीलंका जाना था, वह यहां अनायास ही प्राप्त हुआ। श्रीलंका के किसी भिक्षु के पास जाने के बजाय साक्षात् बुद्ध के ही सान्निध्य में क्यों न जाया जाय ?

'षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः' —ये हैं उस प्राचीन बुद्ध के नाम। इस आधुनिक बुद्ध का भी नाम वही है—विनायक, और वह काम भी वही कर रहा है। क्या यही नहीं है वह मैत्रेय बुद्ध, जिसकी प्रतीक्षा की जा रही है ? इसके मुख से भी वही आर्य सत्य, वही करुणा और वही मैत्र प्रसृत किया जा रहा है। इसका हर पद (वचन) धर्म्मपद है, और पदयात्रा धर्म-विहार है। वह बुद्ध केवल काशि-कोसल में संचार करता था, यह बुद्ध अखिल भारत में संचार कर रहा है। पूज्य विनोबा ने धर्मपद का रचनांतर किया है, उसे मैं धर्मपद की नव-संहिता कहता हूं। यह नव-संहिता संपूर्ण पद-सूची के साथ प्रकाशन के मार्ग पर है। बाद में उसका सरल गद्यानुवाद दिया जायगा, जो भारत की चौदहों भाषाओं में प्रकाशित हो जायगा। इसी काम से मैं वहां गया था। इसलिए भगवान् बुद्ध, बौद्ध धर्म तथा संबद्ध विषयों की चर्चा अगले पृष्ठों में अनेक बार छिड़ी है। इसके अलावा और भी छोटे-मोटे विषयों की चर्चा की गई है। ये तो हैं स्वैरकथाएं ही। स्वैरता के कारण उनकी विविधता के साथ विश्रब्धता भी लक्षणीय है। लक्षणीय है, इसीलिए रक्षणीय भी।

कहा है—'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।'—प्रिय शिष्य के सम्मुख गुरु रहस्य भी खोल दिया करते हैं। इस न्याय के अनुसार कई गुह्य बातें भी इसमें सम्मिलित हुई हैं। प्रार्थना यही है कि उन्हें बिना शब्दों के हृदयस्थ किया जाय। ये बातें मैं उसी दिन लिख डालता और वल्लभ-स्वामी, तिमप्पा, गुलबाड़ी, अप्पासाहब, बलवंतसिंह आदि उन्हें पढ़ते या सुनते, और उनकी यथार्थता के बारे में समाधान प्रकट करते।

इतना कहने के बाद कहने के लिए कुछ नहीं बचता। पुस्तक पाठकों के हाथ में है। कुछ कहना ही हो तो इतना कहूंगा कि इसमें जो अच्छा है, वह बड़ों का है। अगर कहीं कुछ अनुचित लगे तो आप समझ लें कि वह जान-बूझकर की गई गलती नहीं, अनजान में हुई भूल है और उसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूं।

ब्रह्म मंदिर,
गोपुरी, वर्धा.

—कुंदर दिवाण

विषय-सूची

विनोबा के जंगम विद्यापीठ में

: १ :

भगवान् बुद्ध का विचार

प्रातः ५ बजे अरकेरे से निकल पड़े। विनोबाजी के साथ बलवन्तसिंह, डोनाल्ड ह्यूम, जर्मन लड़की हेमा, बंबई के लोग आदि-आदि जनसमूह था। कुछ देर तक सब चुपचाप चलते रहे। दो-तीन फर्लांग चलने के बाद बदन में जरा-सी गर्मी पैदा हुई और विनोबा की वाक्-गंगा बहने लगी।

धम्मपद का अध्ययन

विनोबा बोले—बुद्ध धर्म का अध्ययन मैंने श्री वावीकर-कृत धम्मपद के अनुवाद के सहारे शुरू किया। 'ग्रंथमाला' मासिक पत्रिका में उसका प्रकाशन किया गया था। उस माला द्वारा प्रकाशित सब-की-सब पुस्तकें मैंने पढ़ डाली थीं। साग-सब्जी के बगीचे से लेकर धम्मपद तक सारी पुस्तकें मैं पढ़ गया। अंग्रेजी, पाली आदि भाषाओं से अनूदित अनेक ग्रंथ इस माला में मैंने पढ़े। जब अपनी भाषा में पढ़ने को उपलब्ध है तब क्यों न पढ़ूं! मूल भाषा में पढ़ना जब संभव होगा तब देखा जायगा। लेकिन तबतक स्वभाषा द्वारा पढ़ना ठीक होगा। उससे ज्ञान में वृद्धि तो होती ही है। इसके बाद भट और मंडली द्वारा प्रकाशित धम्मपद का अनुवाद पढ़ लिया। इन दो अनुवादों के बाद धर्मानंद कोसंबी का किया हुआ गुजराती अनुवाद गुजरात विद्यापीठ में मिला। वहां पाली तथा अर्धमागधी के कई ग्रंथ थे। उनमें एक व्याकरण-ग्रंथ भी था। उसे भी देख लिया। बीच में कुर्तकोटि-द्वारा संपादित सुंदर अक्षरों में मुद्रित मूल संहिता देखी। उसमें पादटिप्पणी में पाठ-भेदों का निर्देश था। उत्तरप्रदेश की भूदान-पदयात्रा में बुद्ध-जयंती के अवसर

पर लखनऊ में मैंने व्याख्यान में कहा था कि यह मेरा धर्मचक्र-प्रवर्तन ही चल रहा है। बाद में मैं काशी गया, जहां सारनाथ की महाबोधि सोसायटी के सदस्यों ने सारनाथ आने का मुझे निमंत्रण दिया। इस निमंत्रण में उन्होंने कहा था, "हम मानते हैं, आप महात्मा बुद्ध का ही काम कर रहे हैं।" उनके इस प्रकार के उल्लेख के कारण तथा उनके प्रेमाग्रह के वश होकर मैं ९ सितंबर को सारनाथ गया। वहां उन्होंने मुझे दो ग्रंथ दिये—एक 'धम्मपद', जिसमें संस्कृत छाया तथा हिन्दी उल्था था, और दूसरा 'बुद्ध-चर्या'। मैंने उसे बड़ा शुभ शकुन माना, क्योंकि मैं बिहार में प्रवेश करना चाहता था। मेरा धम्मपद का अध्ययन शुरू हुआ और बिहार में प्रवेश करने के बाद एक लाख एकड़ जमीन प्राप्त करने का संकल्प भी किया गया, वह पूर्ण हुआ। रांका के राजा ने एक लाख एकड़ बंजर भूमि तथा उपजाऊ भूमि का छठा हिस्सा याने दो हजार एकड़ जमीन दान में दे दी। वह दिन था बुद्ध-जयन्ती का। मैंने उसे भगवान् बुद्ध का ही कृपा-प्रसाद माना। मेरा धम्मपद का अध्ययन जारी था ही। मैंने एक लेख लिखा—'धम्मपद : एक अध्ययन'। उसमें बुद्ध की समन्वय-दृष्टि का विवेचन किया।

बुद्ध की सिखावन

आज बुद्ध का विचार-धन सब संसार को आकृष्ट कर रहा है। दुनिया को उसकी जरूरत है। बुद्धिवाद, जाति-भेद पर प्रहार, संन्यास, कारुण्य, निर्वैरता आदि उसके आकर्षण हैं। इनमें कारुण्य तथा निर्वैरता को मैं प्रमुख मानता हूं। अन्य बातें पहले भी मौजूद थीं। उपनिषदों में बुद्धिवाद बुद्ध की अपेक्षा कम नहीं। इसलिए मैं जो उसका रचनान्तर कर रहा हूं उसमें निर्वैरता, सुशीलता आदि बातों से प्रारंभ किया गया है। ध्यान में निर्वैरता, कारुण्य, सर्वभूत-हित भरा रहता है। ध्यान में से बाहर आते ही ध्यानी, ध्यानयोगी खाने नहीं, भूखों को खिलाने चल पड़ेगा, यद्यपि ध्यान की समाप्ति के अनंतर बुद्ध को खाने का ही संयोग प्राप्त हुआ!

बुद्ध का मांसाशन

बुद्ध का पहला तथा आखिरी भोज प्रसिद्ध है। कहते हैं कि आखिर

में 'सूकरमद्दव' खाकर ही बुद्ध चल बसे। लेकिन मैंने कहीं पढ़ा है कि 'सूकर-मद्दव' का मतलब 'मांस' नहीं। बुद्ध से ४० साल पहले महावीर का उदय हुआ था। उनका जीव-दया का उपदेश सब क्षेत्रों में फैला हुआ था, और बुद्ध ने भी खुद प्राणाघात-निवृत्ति का सिद्धान्त प्रसृत किया था। ऐसी अवस्था में विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह मांस खाया करते थे, या मांस खाकर वह मर गये।

भिन्न भाषा, समान विचार

धम्मपद में हमारे विचारों या आचारों के प्रतिकूल परिभाषा क्या पाई जाती है, इसका विचार करना चाहिए। उस प्रकार की परिभाषा उस-में मैंने नहीं पाई। योग, संयोजन आदि शब्द उसमें पाये पाते हैं, पर उन्हें व्यापक अर्थ में समझ लेने से कोई दिक्कत नहीं रहती। बौद्ध तथा जैन परिभाषा में योग का अर्थ बंधन है, फारसी परिभाषा में 'असुर' का अर्थ 'देव' तथा 'देव' का 'राक्षस' रहता है, पर इस शब्द-भेद के बावजूद विचा-रैकता लक्षणीय है।

बुद्ध मौनी हुए

'कलीलागिं झाला असे बौद्ध मौनी' (कलियुग में बुद्ध मौनी होगये हैं)—संत रामदास के इस वचन में बड़ी मार्मिकता मैं महसूस करता हूं। उसमें बुद्ध को मौनी कहा है, यानी आत्मा, ब्रह्म आदि बातों के बारे में मौन धारण करनेवाला कहा है। बुद्ध ने इन बातों का निषेध नहीं किया है। मां अपने बच्चे को नाम से बार-बार पुकारती है, पत्नी पति का नाम नहीं लेती। पर दोनों के मन में प्रेम तो समान ही रहा करता है। बुद्ध स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, बंध-मोक्ष आदि बातों में विश्वास करते हैं, तो भिन्नता रही कहां ? आप कहते हैं—**'गेहकारक दिट्ठोसि'** (गेहकारक तुम देखे गये)। यह देखनेवाला कौन है ? वह उस 'गेहकारक' को 'बंधकृत्' को देखता है, और कहता है कि वह (बंधकृत्) फिर से बंधन में नहीं डाल सकता। यह आत्मशून्यवाद का लक्षण बिल्कुल नहीं। आत्मा के स्वरूप के बारे में मत-भिन्नता होगी तो भले ही रहे। हिन्दूधर्म में वह मौजूद है ही।

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि विश्वास-भेद आत्मा के स्वरूप के संबंध में मतभेद के ही निदर्शक हैं। उसी प्रकार बुद्ध का भी भिन्न मत हो सकता है।

जाति-भेद-भंजन अवतार-कार्य नहीं

दिखाई नहीं देता कि बुद्ध ने जाति-भेद का उच्छेद किया। उसे उनका अवतार-कार्य नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने से यह कहना पड़ेगा कि भगवान् का अवतार व्यर्थ हुआ; क्योंकि जाति-भेद अब भी बना ही हुआ है। एकनाथ ने भी भेड़ के बच्चे को गोद में उठा लिया था, जात्यभिमान का तीव्र निषेध किया था। सभी सन्तों ने ऐसा किया है। लेकिन वे जात्युच्छेद पर तुले थे, यह नहीं कहा जा सकता। बुद्ध के बारे में भी यही मानना चाहिए। हां, यह कहा जा सकेगा कि और सन्तों की अपेक्षा बुद्ध की भावनाएं इस विषय में तीव्रतर थीं। यह उनकी नसीहत थी। वह उनका जीवन-कार्य नहीं था। अब यह कार्य-क्रम हमें अपनाने के लिए बाकी है। चाहें तो हम उसे अपना सकते हैं।

बुद्ध हिंदू ही थे, पर थे सुधारवादी

संक्षेप में, बुद्ध हिन्दू-धर्म के एक महान् सुधारक थे, वह हिंदू थे और हिंदू रहकर चल बसे। यह है मेरा विश्वास। हमारे समाज ने भी उन्हें अवतार मान कर यही मान्य किया है। संन्यासी के नाते वह धर्मातीत होकर मरे, हम कह सकते हैं। यह बात वैदिक संन्यासी को भी लागू है। सारांश यह कि यह सिद्ध नहीं होता कि वह अपनी खिचड़ी अलग पकाना चाहते थे।

मलेबेन्नूर के मार्ग पर,
२६ नवम्बर १९५७

: २ :

चीनी संत लाओत्सी का ताओ

विनोबा—लाओत्सी का 'ताओ' तन् धातु से निकला हो। 'तन्', 'ताय',

'तायी' शब्द वेदों में पाये जाते हैं।

मैंने कहा—लाओत्सी-प्रणीत 'ताओ तेह किंग' ग्रंथ में ब्रह्म-विद्या तथा निष्काम कर्मयोग का स्पष्ट रूप से उपदेश पाया जाता है। जान पड़ता है, किसी औपनिषदिक ऋषि से यह विचार उसे प्राप्त हुआ हो। वह बुद्ध का समकालीन या उससे जरा-सा प्राचीन है। इससे यह मालूम होता है कि बुद्धपूर्व काल में वैदिक धर्म चीन में तथा अन्यत्र भी गया था।

विनोबा—यह संभव है। इसीलिए मैं कहता हूं कि 'ताओ' शब्द 'तन्, ताय, तायी' से व्युत्पन्न हुआ हो।

'रहीम ताओ तू' में रहीम पश्चिमवाला है, तो ताओ पूरबवाला। इसके अलावा रहीम में प्रवृत्ति है, तो ताओ में निवृत्ति। उस रचना में दोनों प्रवृत्तियों का संगमन हुआ है।

मलेबेन्नूर,
२६-११-५७

: ३ :

जगत् के धर्मग्रंथ

सुबह ५ बजकर ५ मिनट पर मलेबेन्नूर से निकले। आज का पड़ाव आठ मील के फासले पर बेल्लोडी ग्राम में होनेवाला था। जाड़ा कल की अपेक्षा जरा कम था, या यों कहिये, हवा कम बहती थी। आज रास्ते में नदी थी। विनोबा और कई लोग नाव में बैठकर नदी पार कर गये। हम पैदल ही गये। सूर्योदय के समय यात्रा थोड़ी देर के लिए रुक गई। सूर्याभिमुख होकर विनोबा सूर्यबिंब के ऊपर आने तक एकटक देखते रहे। कुछ मंत्र भी उन्होंने पढ़े। यह समंत्रक सूर्योपस्थान—सूर्यनारायणोपस्थान—पूरा हुआ और यात्रा फिर से जारी हुई। आज पहले मैंने ही चर्चा का सूत्रपात किया। सूर्योपस्थान के समय तक मुझसे चर्चा चलती रही। बाद में बंबईवालों से तथा बीच-बीच में बलवंतसिंह से भी बातचीत हुई।

बुद्ध का प्राचीन साहित्य से परिचय नहीं

बड़ी देर तक चलने के बाद जब मैंने देखा कि विनोबा बोल नहीं रहे हैं, तो मैं आगे बढ़ा और बोला—विनोबाजी, भगवान् बुद्ध के समय मध्यदेश में बुद्ध के साथ ही कुल सात धर्म-प्रवर्तक विचरण कर रहे थे। बुद्ध स्वयं ज्ञान की खोज में निकले थे। गीता, उपनिषद्, वेद आदि से उनका परिचय आवश्यक था। लेकिन धम्मपद आदि साहित्य से नहीं दिखाई देता कि उनका उनसे अच्छा परिचय रहा हो। मुझे इस बात का आश्चर्य होता है कि गीतोपनिषद् वेदादि साहित्य की उक्तियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख उनके द्वारा कहीं भी किया हुआ नहीं पाया जाता।

बुद्ध पढ़े-लिखे नहीं थे

विनोबा बोले—बुद्ध पढ़े-लिखे पंडित नहीं थे। उनके पिता ने उन्हें सुख में रखने का प्रबन्ध किया था। यह अचरज की बात नहीं कि उन्होंने बुद्ध को अध्ययन के कष्टों से भी दूर रखा हो। इस कारण प्राचीन वैदिक साहित्य से वह परिचित नहीं थे। उपनिषद् तथा गीता की रचना हुए युगों बीत गये थे। हजार-हजार बरस व्यतीत हो चुके थे। गीता जब कही गई तब उपनिषदों का लोप हुआ था। उन्हें कोई बिरला ही जानता था। **'स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप'** गीता में कहा है। बुद्ध के समय में भी यही बात हुई होगी। इसमें अचरज ही क्या! वेदों और उपनिषदों के बीच इससे भी अधिक समय बीत चुका था। इसके अलावा उस समय ज्ञान-प्रचार के आज जैसे साधन उपलब्ध थे ही नहीं।

ब्रह्मविद्या की अपेक्षा योगशास्त्र अधिक प्रचलित

मैंने कहा—जान पड़ता है कि बुद्ध, जिन दोनों—अलारकालाम और उद्रक रामपुत्र—के पास गये थे, उनसे उन्हें प्रमुखतः समाधि-योग का ज्ञान प्राप्त हुआ था। पतंजलि मुनि उस समय या उससे कुछ पूर्व होगये हों। मुझे लगता है कि इसी कारण ब्रह्मविद्या की अपेक्षा योगशास्त्र का प्रचलन उस समय अधिक रहा हो।

सूत्रग्रंथ दर्शनशास्त्र की प्रगति के निदर्शक

विनोबाजी बोले—पतंजलि का समय उसके आसपास रहा हो, पर योगदर्शन पुराना ही है। दर्शनशास्त्र जब पूर्णावस्था को पहुंच जाता है तब सूत्रग्रंथों की निर्मिति होती है। पतंजलि के पूर्व योगदर्शन का पर्याप्त विकास हुआ था। उन्होंने उसे सूत्र-रूप में ग्रथित किया है।

गीता का प्रचार पहले नहीं था

आज जिस प्रकार हमारे बीच गीता का प्रचार दिखाई देता है वैसा पहले नहीं था। शंकराचार्य-प्रणीत भाष्य के अनंतर ही उसका पुनरुज्जीवन हुआ। उसके पूर्व गीता पर ज्ञान-समुच्चयवादी टीका-ग्रंथों के अस्तित्व का पता शांकरभाष्य से चलता है, तथापि गीता का बहुत अधिक प्रचार नहीं पाया जाता। शंकराचार्य के बाद रामानुज आदि अन्य आचार्यों ने भाष्य रचे, जिनका प्रचार हुआ। तो भी गीता का प्रचार केवल पंडितों तक सीमित था, आम जनता उससे अपरिचित रही।

ज्ञानदेव का महदुपकार

लेकिन ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' का प्रणयन करके गीता को आम जनता तक पहुंचा दिया। अन्य प्रांतों में ऐसा प्रयास कहीं नहीं किया गया। यह ज्ञानदेव का महाराष्ट्र पर बड़ा अहसान है। एकनाथ ने उन्हींका अनुसरण किया। भागवत के दशम स्कंध से उन्हें बड़ा प्यार था, लेकिन उन्होंने टीका लिखी एकादश स्कंध की। उस टीका-ग्रंथ में उद्धव को भगवान् का किया उपदेश ग्रथित किया है। अन्य प्रांतों में यह नहीं पाया जाता।

गीता ही हिंदूधर्म का प्रमुख ग्रंथ

आधुनिक समय में ईसाइयों के 'बाइबिल' के समान हमारा कौन-सा 'बल' है, इस बात का विचार करते हुए सबकी दृष्टि गीता पर पड़ी। वही हिन्दूधर्म का प्रमुख ग्रंथ कहला सकेगा। आज के युग में तिलक, अरविंद, गांधी आदि ने उसीपर बल दिया। इस कारण वह जनता में प्रसार पा गया है। वैसा प्रसार उसका पहले कभी नहीं था। दूसरा कोई ग्रंथ उसका

प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। गीता में ज्ञान है, कर्म है और साथ-ही-साथ भक्ति भी है। वही उसकी ताकत है। भक्ति के कारण ही वह लोकमान्य होगया है। उसमें सब है। उसमें जो बातें नहीं हैं वे हिंदूधर्म में यद्यपि पाई जायं तो भी वे हिंदूधर्म के सारतत्त्व नहीं हैं। व्रतबंध-विवाह की विधियां गीता में नहीं हैं। उन्हें अगर कोई आचरण में न लाये तो भी नहीं कहा जा सकता कि वह हिंदू नहीं है। ऐसा यह गीताग्रंथ जगत् का ग्रंथ होगा। इसमें जो कृष्णोपासना है, उसका व्यापक व्यक्ति-निरपेक्ष आशय समझ लेने से यह संसार में मान्यता पा जायगा।

व्यक्ति-निरपेक्ष गीता संसार का धर्मग्रंथ

कबीरपंथियों का विश्वास है कि कबीर कोई व्यक्ति नहीं, वह एक शक्ति है। न उसने ब्याह किया था, न उसके कोई पुत्र था। कबीर याने महान्। कबीरपंथी कहते हैं---देखिये, कबीर का नाम उपनिषदों में मिलता है: '**कबिर् मनीषी परिभूः स्वयंभूः।**' वैसे ही कृष्ण को भी व्यक्ति नहीं समझना चाहिए। यह हो जाय तो गीता जगत् का धर्म-ग्रंथ हो सकेगी। उसमें वह लियाकत है।

गीता के प्रतियोगी धर्मग्रंथ

बाइबिल में का मैथ्यू तथा धम्मपद गीता के प्रतियोगी धर्मग्रंथ हैं। कुरान शरीफ अरबी भाषा के कारण जोरदार मालूम होता है, लेकिन अनुवाद में उसका आकर्षण जाता रहता है। भाषा ही उसका बल है। वह अरबी भाषा का अभिजात ग्रंथ है। उसमें मनुस्मृति की भांति कुछ कानून, भागवत की भांति कुछ भक्ति-भावना, कई कथाएं और थोड़ा-सा तत्त्वज्ञान है। मेरा विचार है कि उसका निचोड़ निकालूं। पर जब बनेगा तब। इस अवस्था में कुरान दुनिया का धर्मग्रंथ नहीं हो पाता। वह गीता का प्रतियोगी नहीं। जिन्हें ईश्वर के प्रति खिंचाव नहीं, आदर-भाव नहीं, उन्हें धम्मपद बड़ा ही आकर्षक लगता है, इस कारण वह दुनिया का धर्मग्रंथ है।

गीता नास्तिकों की भी पथप्रदर्शक

जिन्हें ईश्वर के नाम से परहेज है उनके लिए भी गीता में गुंजाइश है। "अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुमद्योगमाश्रितः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।" गीता में भगवान् ने यह कहा है। मुझसे प्राध्यापक लिमये ने पूछा था—क्या 'मेरा आश्रय छोड़कर सर्व कर्म-फल त्याग करो' ऐसा ईश्वर-निरपेक्ष अर्थ करना उचित होगा? मैं तो इसी अर्थ को मानता हूं। इसका मतलब यह हुआ कि गीता उनके लिए उपादेय है, जो ईश्वर-निष्ठ हैं और उनके लिए भी जो ईश्वर के नाम से भागते हैं, यानी आस्तिकों तथा नास्तिकों दोनों के लिए समान रूप से उपादेय है।

धम्मपद केवल नीतिपरक नहीं

मैं कहा करता था कि धम्मपद नीतिपरक ग्रन्थ है, विदुरनीति की भांति। पर वह केवल नीतिपरक नहीं, उसमें सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार हैं। इस कारण वह भी जागतिक धर्मग्रंथ है। इसलिए उसका रचनान्तर करके सब भाषाओं में उसका उलथा प्रकाशित करने की मेरी योजना है। मैथ्यू के गॉस्पेल का गिरि-प्रवचन या पर्वतोपनिषद् भी इसी प्रकार सबको पसंद आने लायक है। वह सब-का-सब सीधे स्वीकृत किया जाता है। पर संपूर्ण बाइबिल इस प्रकार स्वीकृत नहीं हो सकता। गीता और धम्मपद संपूर्ण रूप में स्वीकरणीय हो सकेंगे।

धर्म : अफीम की गोली

मार्क्सवादी धर्म को अफीम की गुटिका बताते हैं। संस्कृत-साहित्य में 'सुरा' शब्द का प्रयोग मिलता है, पर अफीम की उपमा नई चीज है। वह जिस दिन मेरे पढ़ने में आई, उसी रात को मैंने एक श्लोक रचा—

आहे दरिद्र दुबला जड़ जीव एक। आयुष्य कंठित खुशाल भुलूनि दुःख।
देवा, तुझें मधुर नाम अफू फुकाची। सेवूनि घेत बघ झोप कशी सुखाची॥

अर्थात्—'मैं एक दरिद्र, दुबला, जड़ जीव हूं, दुःख को भूलकर आराम से आयु व्यतीत कर रहा हूं। हे ईश्वर, तुम्हारा मधुर नाम मुफ्त की अफीम है, जिसे सेवन कर मैं सुख की नींद सो जाता हूं।'

दरिद्र, दुबला और जड़ से मतलब है लक्ष्मी, शक्ति तथा सरस्वती तीनों देवियों की परवा न करनेवाला, केवल भगवच्चरण।

मैं—आपने कमाल कर दिया इस अफीम को मुफ्त की कहकर। सब दुःख हरनेवाली यह विस्मरण की दवा विना मूल्य है। उसे अफीम भले ही कहें, पर अफीम के पैसे देने पड़ते हैं, जो दोष इस अफीम में विद्यमान नहीं। और इसे आपने अफीम कहा तो भी कोई चिंता नहीं। यह देखिये, मैं मजे में हूं, न किसी प्रकार की चिंता है, न किसी प्रकार की परवा!

बेल्लोडी के पथ पर
२७-११-५७

: ४ :

धर्म-प्रसार और राजसत्ता का आधार

आज ५-३० पर निकल पड़े, आधा घंटा देर से, क्योंकि पड़ाव हरिहर पांच मील के फासले पर था। समय भी कम था। इसलिए मैंने चर्चा में भाग नहीं लिया। बलवंतसिंह और बंबईवाले के साथ ही चर्चा जारी रही।

हरिजनों की दशा

प्रारम्भ में बलवंतसिंह ने बेल्लोडी की जानकारी दी। गांव की आबादी में मुसलमान और हरिजन काफी तादाद में हैं। पहले उनके पास जमीन थी। कर्ज के मारे जमीन धीरे-धीरे सवर्णों के हाथ में चली गई और अब वे सिर्फ मजदूर बन गये हैं। मर्द की मजूरी १२ आने और औरत की ६ आने। यह भी बारह महीने नसीब नहीं।

धर्मांतर हरिजनों में से हुआ

विनोबा बोले—सवर्णों ने हरिजनों पर पुरातन काल से अन्याय किया है और आज भी उनकी आंखें नहीं खुलतीं। ईसाइयों और मुसलमानों ने उन्हीं में से धर्मान्तर किये। कोई भी उच्चवर्णीय मुसलमान या ईसाई नहीं

बना। न मुसलमान को उन्होंने अपने से उच्च माना, न ईसाई को। और दिखाई क्या देता है? मद्य-मांस को न छूनेवाला आदमी धर्मांतर के बाद शराबी, मांसाहारी बन जाता है। इसका मतलब यह है कि वह अवनत हो जाता है, उसकी उन्नति नहीं होती। वह सुसंस्कृत नहीं बनता, बल्कि तामस बन जाता है।

भारत में ईसाई धर्म बहुत पुराना

वैसे तो ईसाई धर्म हिंदुस्तान में ईसवी सन् की पहली सदी में ही आया है। ईसा के बारह शिष्यों में से एक तो ईसा के जीवनकाल में ही समाप्त हो गया था। बाकी ग्यारह में से सेंट थॉमस दक्षिण में मलाबार में आया था। वहां उसने ईसाई धर्म का प्रसार किया। पर वह ज्यादा फैल नहीं पाया।

ईसाई धर्म के बारे में मेरा पूर्वाग्रह

लेकिन बाद में पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज आये और राज्यकर्ता बने। उन्होंने सत्ता के बल पर, अत्याचार से धर्मान्तर जारी किया। मुसलमानों ने भी वही किया। इसलिए उनके धर्मों के बारे में कभी भी अनुकूल मत नहीं रहा। गोरा आदमी देखकर मेरे दिल में घृणा पैदा हुआ करती।

मैं साबरमती आश्रम में था। वहां एक बार एंड्रूज आये। बापू ने उनसे मेरा परिचय करा दिया। बापू बोले—'आश्रम में लोग आते हैं कुछ सीखने, कुछ ले जाने। पर यह आया है आश्रम में कुछ देने। इससे आश्रम बहुत-कुछ पायेगा।' यह बात बाद में महादेवभाई ने मुझसे कही।

एंड्रूज एक बार वर्धा पधारे थे। उनका सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। अध्यक्ष मैं था। एंड्रूज निष्कलंक तथा सच्चे धर्मनिष्ठ थे। व्याख्यान के बाद मैंने उनसे माफी मांगी। मैं बोला—"ईसाइयों के बारे में मेरे मन में असद्भाव था, घृणा थी। मैं माफी चाहता हूं।"

एंड्रूज बाद में जमनालालजी से बोले, "यह आदमी अजीब दिखाई देता है। इसके विषय में बापू ने मुझसे पहले ही कहा था, लेकिन आज उसका अनुभव मिला। कितना सच्चा दिल है! इसे क्या जरूरत थी मुझसे माफी मांगने की? मैंने थोड़े ही उसके दिल में झांका था? जमनालाल-

जी पर भी इस बात का बड़ा असर हुआ। वह बोले, "जो सत्यनिष्ठ बनना चाहता है उसे चाहिए कि वह अपना दिल साफ रखे। इसकी मिसाल मुझे मिल गई। मन में कहीं भी मलिनता को रहने नहीं देना चाहिए। कोना-कोना साफ रखना होगा।"

ईसाई धर्म क्यों नहीं फैला ?

ईसाई अगर राजसत्ता का आधार धर्म-प्रचार के लिए न लेते तो वह धर्म अपनी सेवापरायणता के बल पर भारतीय धर्मों में से एक बन जाता, लेकिन वैसा नहीं हो सका। राजम्मा के पिता सनातनी हिन्दू हैं। उनके देवगृह में पंचायतन है। वहीं ईसा की भी तस्वीर है। ईसाई अगर जुल्म-जबरदस्ती का पल्ला न पकड़ते, राजसत्ता का आधार न लेते, तो ईसा को एक संत के रूप में हिन्दुओं के देव-मन्दिर में स्थान मिल जाता।

मद्रास की तरफ एक पादरी संन्यासी बना और उसने अनेकों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया। यह स्वेच्छा से होगया। इस प्रकार ईसाइयों ने सेवा-भाव से काम लिया होता तो ईसा जरूर हिन्दुओं की सन्तमालिका में स्थान पा जाते और वह धर्म यहां मिलकर प्रसार पा जाता। लेकिन उनकी प्रेरणा धर्म-प्रचार की है और उसीके लिए उनका सेवा-भाव है। इस कारण से और राजसत्ता पर निर्भर रहने से वह धर्म भारत के लिए पराया रहा और इस समाज के लिए अपनापा नहीं पैदा हुआ।

इस्लाम का भी वही हाल

महंमदी धर्म का भी हाल वही हुआ। वह भी राजसत्ता के बल-बूते पर पनपा। यही वजह है कि उसके विषय में, उसके धर्मग्रन्थ कुरान के बारे में, लोगों के दिल में अजीब-अजीब धारणाएं घर कर गईं। मैं जब कुरान का अध्ययन करने लगा, तब एक बड़े आदमी ने मुझे लिखा कि 'चूंकि आप कुरान का अध्ययन करते हैं, उसमें जरूर अच्छाई भी है। वास्तव में जो करोड़ों लोगों का धर्मग्रन्थ है उसके बारे में सहज-भाव से यह धारणा चाहिए कि वह बुरा होगा कैसे। लेकिन यह कैसी अजीब बात है कि उस कारण से नहीं, बल्कि मैं उसे पढ़ रहा हूं, इस वजह से उसमें अच्छाई देखी जाय!

लेकिन यह धारणा धर्म के नाम पर राजसत्ता-कृत अत्याचारों का परिपाक है। इसलिए धर्म को चाहिए कि वह राजसत्ता का आश्रय न ले।

हरिहर की राह पर
२८-११-५७

: ५ :

बुद्धमत और कूटस्थ आत्मतत्त्व

सुबह ५ बजे हरिहर से चले। अगला पड़ाव दावणगेरे नौ मील की दूरी पर है। वहां कपड़े की तथा तेल की मिलें हैं। शहर व्यापारी है। वहां दो दिन ठहरना है। आज हमारे साथ वल्लभस्वामी भी हैं।

बुद्ध के अनात्मवाद का स्वरूप

थोड़ी देर चलने के बाद मैं बोला—विनोबाजी, भगवान् बुद्ध ने अपने मार्ग को मध्य मार्ग कहा है। न वह क्रियावादी थे, न अक्रियावादी।, उनके विशिष्ट सिद्धान्त से अनात्मवाद उद्भूत हुआ है। यह मेरा मंतव्य है। वेदान्ती कूटस्थ नित्य आत्मा मानते हैं। इस कारण उनका सिद्धान्त है कि ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है (ज्ञानदेव तु कैवल्यम्)। उनकी धारणा है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसी भी कर्म की आवश्यकता नहीं। भगवान् बुद्ध के समय जो अक्रियावादी थे और जो क्रियावादी थे, दोनों से भिन्न मत बुद्ध ने अपनाया है। इन दो अन्तिम स्थितियों के बीच उनका मत था। एक बार उनसे पूछा गया—आप क्रियावादी हैं या अक्रियावादी? वह बोले—"मेरा कहना है कि अकुशल कर्म नहीं करने चाहिए, इसलिए मुझे अक्रियावादी कहा जा सकेगा। और मैं कहता हूं कि कुशल कर्म करने चाहिए, इसलिए मैं क्रियावादी भी कहला सकता हूं।" इसका मतलब यह है कि उन्हें सत्-क्रियावादी कहना पड़ेगा। अर्थात् वह कूटस्थ नित्य आत्म-तत्त्व नहीं मानते थे, वरन् परिणामि-नित्य आत्म-तत्त्व के वह कायल थे। मालूम होता है कि यही उनका सम्यक ज्ञान वा संबोधि है।

> नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेपि वशगा
> विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
> फलं कर्मायत्तं यदि, किममरैः किं च विधिना ?
> नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥

मेरी राय में यह भर्तृहरि-प्रणीत श्लोक बुद्धमत का ही प्रतिपादन करता है। कहना पड़ता है कि अपने शुभ कर्मों के अनुसार मनुष्य उत्तरोत्तर उन्नत होता जाता है, इसी प्रकार निरंतर उन्नति करते जाना ही उसका स्वभाव है—यह बुद्ध का मन्तव्य था। इसके अनुकूल यह है कि आत्मतत्त्व निरंतर विकासशील है। नारदभक्ति-सूत्र में इसके अनुकूल विचार पाया जाता है। उसमें कहा गया है—वह **'प्रतिक्षणवर्धमानं अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपम्'** है। इस विषय में आपकी सम्मति क्या है ?

बुद्ध ज्ञानवादी ही थे, कर्मवादी नहीं

विनोबा—बुद्ध का मध्यमार्ग संयतता या सुवर्णमध्य (गोल्डन् मीन्) का वाचक नहीं। उसके लिए बुद्ध की आवश्यकता नहीं। यदि बुद्ध मोक्ष में विश्वास न करते तो उन्हें कर्मवादी कहना उचित होता। लेकिन जब वह मोक्ष में विश्वास करते हैं तब वह अवस्था 'कर्म' से प्राप्त कैसे होगी ? वह मोक्षरूप शुद्धि अगर कर्म द्वारा प्राप्त होनेवाली हो, तो वह मलिन होगी। उसे फिर से शुद्ध करना होगा। वह मोक्षावस्था कैसी, जिसे बार-बार शुद्ध करना पड़े ?

कर्म का आधार क्या ?

मैंने पूछा—फिर कर्म का आधार क्या है ?

विनोबा—कर्म का आधार यही देह है। उसके लिए अलग आधार की आवश्यकता नहीं। मोक्ष के लिए आधार की आवश्यकता है, वह है आत्मा।

आत्मतत्त्व का विचार

मैं—क्या यह कहा जा सकता है कि बुद्ध कूटस्थ नित्य आत्मतत्त्व

मानते थे ?

विनोबा—गीता कूटस्थ नित्य आत्मतत्त्व मानती है, लेकिन उसने और वादों का भी निर्देश किया है। गीता यही कहकर नहीं ठहरती कि **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'**, इतना ही कहती तो वह दुःख का, शोक का, कारण हो जाता। उसीके साथ गीता कहती है—**'ध्रुवं जन्म मृतस्य च'**। इसका अर्थ 'देहातीत नित्य तत्त्व माना गया है' नहीं लिया, तो भी मरने के बाद अपरिहार्य रूप से जन्म होगा ही, यह अर्थ अभिप्रेत है। इसलिए शोक का कोई कारण नहीं रहता। इसके अलावा कहा गया है—**'अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्'**। उसका अनुवाद गीताई में यों किया है—**'अथवा पाहसी तूं हा मरे जन्मे प्रतिक्षणीं'** (या तुम इसे हर क्षण जनमते-मरते देखते हो)। यह एक प्रकार का आत्मवाद ही है। यह कूटस्थ नित्यतत्त्व नहीं है, तो भी परिणामि-नित्यत्व है। आत्मतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसे भिन्न मत हो सकते हैं। ब्रह्मसूत्र ग्रंथ में भी तीन चिन्तकों में तीन भिन्न मत उल्लिखित हैं—(१) **प्रतिज्ञा-सिद्धेर लिङ्गं, आश्मरथ्यः**। (२) **उत्क्रमिष्यन् एवं भावात्, इति औडुलोमिः**। (३) **अवस्थितेः, इति काशकृत्स्नः**।

मैं—यह जो आत्मतत्त्व है उसे कूटस्थ नित्य मानने पर भी उसमें ज्ञान-क्रिया तो जरूर रहेगी। अगर वह भी उसमें न रहे तो उसे जड़ कहना पड़ेगा। उसका वर्णन 'सत् चित् आनंद' किया जाता है।

विनोबा—उसमें क्रिया का अस्तित्व मानने पर उसे अपूर्ण कहना पड़ेगा। किसी भी क्रिया की गुंजाइश उसमें कहां! 'वह' दुःख जानता है, इसका अर्थ यह है कि 'वह' दुःख से अलग है। इसलिए उसे आनंद-स्वरूप कहते हैं। लेकिन वह आनंद का अनुभव नहीं करता। बर्फी अपना स्वाद नहीं जानती। शंकराचार्य कहते हैं, "जो कहता है कि मैं दुःखी हूं वह यही जाहिर किया करता है कि मैं 'अदुःख' हूं।" नारदभक्ति-सूत्र ठीक नहीं। बर्फी का स्वाद लेने जैसा वह अनुभव नहीं। यदि वह वैसा हो, तो उसे मुक्ति नहीं कहा जा सकेगा।

दावणगेरे की राह पर
२६-११-५७

२९-३० नवम्बर को पड़ाव दावणगेरे में रहा। ३० तारीख को सबेरे चलते हुए चर्चा तो हुई, पर वह कुछ दूसरे प्रकार की थी।

: ६ :

ग्रामदान और 'हम-हमारा'

वरीयान् एष वः प्रश्नः

दावणगेरे से दोड्डमंगलगेरे जाते समय बहुत बड़ा जनसमूह साथ था। कल कई लड़कियों ने लिखित प्रश्न पूछे थे। उनसे विनोबा ने कहा था, "कल सबेरे आना। चलते-चलते तुम्हारे सवालों के जवाब दे दूंगा।" बड़े तड़के वे उठकर आई थीं। उनके अनेक प्रश्नों में एक बड़ा मार्मिक था। उसने विनोबा को सन्तोष दिया। वह बोले कि इस प्रश्न से यह मालूम हुआ कि आजकल लड़के-लड़कियां क्या सोच रहे हैं, उनके विचारों का रुख किस ओर है। इस प्रश्न के लिए उन्होंने उन लड़कियों को बधाई दी।

हमारा मंत्र 'जय जगत्'

प्रश्न यह था : आप कहते हैं कि ग्रामदान से 'मैं-मेरा' की भावना जाती रहेगी और यह ठीक भी है। लेकिन उसके बदले 'हम-हमारे' भावना आयेगी न, तो क्या फर्क हुआ? क्या इससे एक गांव का दूसरे गांव से विरोध नहीं होगा? झगड़ा नहीं होगा?

विनोबा—प्रश्न बड़ा मार्मिक है। पर इस प्रकार का विरोध नहीं होगा, क्योंकि हमारा मन्त्र क्या है? जय जगत्! सर्वोदय हमारा ध्येय है। उसमें संकीर्णता तथा विरोध के लिए गुंजाइश नहीं। विशालता, उदारता और सहकार ही हमारी नीति रहेगी। एक गांव दूसरे की मदद करेगा, उसे भी आगे बढ़ायेगा। 'एकमेकां साह्य करूं, अवघे धरूं सुपंथ।' अर्थात् एक-दूसरे की सहायता करेंगे, सब मिलकर सन्मार्ग अपनायेंगे। यह कहकर सब चलेंगे।

: ७ :

नक्षत्र-दर्शन

स्वाति और मोती

लड़कियों के सब सवालों के जवाब देने के बाद विनोबा ने उन्हें तारकाओं के दर्शन कराये, उनकी जानकारी दी। स्वाति नक्षत्र दिखाकर वह बोले—जब सूर्य इस नक्षत्र में रहता है, तब जो वर्षा होती है, उससे, माना जाता है, मोती तैयार होते हैं। लेकिन यह गलत है। मोती तैयार होते हैं कालवों से।

स्वाति के पास जो ग्रह है वह गुरु है। ग्रहों में वह सबसे बड़ा है। उसकी अपेक्षा शुक्र तेज में अधिक है। आकाश में वह प्रथम क्रमांक का है। वह कभी सुबह, कभी शाम को निकलता है। आकाश के मध्य में वह अक्सर नहीं दिखाई देता।

सप्तर्षि में भारत-दर्शन

बाद में सप्तर्षि की तरफ मुखातिब होकर बोले—तुमने हिन्दुस्तान का नक्शा देखा है न? देखो ये चार तारकाएं चौकोर बनाती हैं। वह है काश्मीर, और ये तीन तारकाएं नेपाल आदि का हिस्सा हैं। है न यह हिन्दुस्तान की आकृति?

अरुंधती और छः कृत्तिकाएं

उन तीन तारकाओं में बीच की तारका वसिष्ठ की है। उसके पास एक छोटी तारका है, वह है अरुंधती की। अन्य छः ऋषियों की पत्नियां उनके पास नहीं हैं। यह अरुंधती सदा वसिष्ठ के पास ही रहती है। उन छहों का अंगूरों के गुच्छे के समान गुच्छा दिखाई देता है न? वह है कृत्तिका नक्षत्र।

ध्रुव चल है

सप्तर्षि-समूह के पहले दो तारों में से तिरछी रेखा नीचे की ओर खींचने

पर ध्रुव से जा मिलती है। वह देखो ध्रुव ! वह हिलता नहीं, इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। लेकिन यह तारा दो इंच घूमता है। ध्रुव की कहानी तुम जानती ही हो।

सुबह जल्दी उठो

लड़कियों से पूछा—"तुम सुबह कितने बजे उठती हो ?"

"५ बजे।"

"अच्छा, सोती कितने बजे हो ?"

"१०-१०॥ बजे।"

"यानी तुम्हें ६॥ घंटे नींद मिलती है। देर से सोना ठीक नहीं। नौ बजे सो जाना चाहिए।"

"पढ़ाई पूरी नहीं होती है।"

"सबेरे और भी जल्दी उठ जाओ। ४ बजे उठ गईं तो ७ घंटे नींद मिलेगी। आज तुम्हें ६॥ घंटे नींद मिलती है। सिवा इसके सुबह की पढ़ाई अच्छी होती है। दुनिया के बड़े लेखकों ने अपना लेखन सुबह ही किया है। 'गीताई' सुबह ही लिखी गई है। सुबह जल्दी उठने से बहुत लाभ होते हैं।"

इसके बाद लड़कियां विदा की गईं।

दोड्डमंगलगेरे के मार्ग पर
१-१२-५७

: ८ :

डेनियल के प्रश्न

समर्पण-शक्ति

डेनियल—समर्पण-शक्ति बढ़नी चाहिए। वह कैसे बढ़ेगी ?

विनोबा—समर्पण एक धूर्तता है। थोड़ा देना और सब ले लेना। अपने पास जो कुछ थोड़ा-सा रहता है उसे दे डालने पर सब अपना ही बन

जाता है। बूंद सागर में समा जाने पर स्वयं सागर बन जाती है।

पाप-भीरुता

डेनियल—पाप को कैसे टालें?

विनोबा—'**बोलो जातां बरळ करिसी तें नीट।**' अर्थात—'जब हम बेकार बातें बकते हैं तब उन्हें तुम सुधार लेते हो।' ईश्वर का भरोसा इस प्रकार चाहिए। तो भी पाप-भीरु रहना ही मध्यम मार्ग है, जो कि अधिक अच्छा है। पाप-भीरुता बरतने से पाप नहीं रहेगा। करते-करते कर्म इतना स्वाभाविक बन जाता है कि वह कर्म रहता ही नहीं।

शहर में शांति-सेना का संगठन

डेनियल—क्या शहरों में कार्य नहीं होना चाहिए?

विनोबा—मेरे मन में विचार है कि पूरब में कटक, पश्चिम में बंबई, दक्षिण में बेंगलूर और उत्तर में काशी कार्य के लिए चुने जायं। वास्तव में पूरब में कलकत्ता को ही चुनना चाहिए, पर वहां भक्तिमार्ग का ही प्रचलन रहेगा। युवा लोग तो हिंसा में ही दीक्षित हैं। भक्ति का संगठन नहीं हो सकता। भूदान का कार्य सामाजिक है। काशी में आपका दफ्तर है। वहां सभी भाषाओं के विद्यार्थी रहा करते हैं। बंबई में भी इतनी विविधता नहीं है। ये विद्यार्थी बड़ी भावना लेकर आते हैं। काशी पांच हजार बरस का पुराना नगर है। दिल्ली में तो राज्यकर्ता बस गये हैं। कम-से-कम चार शहरों में शांति-सेना स्थापित करने का मेरा इरादा है। कटक के बारे में मुझे चिंता नहीं। रमादेवी के हाथों यह काम सौंप दिया गया है। कटक में शांतिसेना का संगठन आसान मालूम होता है। बंबई रह जाती है। वहां किसे सौंप दिया जाय? नारायण देसाई से कहा है, बीच-बीच में इस तरफ ध्यान देने के लिए। बंबई में ५२ तहसील हैं, तो कम-से-कम ५२ कार्यकर्ता चाहिए। आज दस-बारह हैं।

दोड्डमंगलगेरे
१-१२-५७

: ६ :

नागरी लिपि और विभिन्न भाषाएं

एक लिपि से लाभ

विनोबा—गुजराती 'गीता-प्रवचन' नागरी लिपि में छपवाना है। किसीने संदेह प्रकट किया कि इससे उसकी खपत घट जायगी। मैंने कहा—नहीं-नहीं, खूब चलेगी। अनेक भाषाओं की एक ही लिपि रहने से बड़ा लाभ होता है। जर्मन भाषा मैं अठारह दिन में सीख गया, क्योंकि उसकी लिपि रोमन है। इतने थोड़े अर्से में दूसरी कोई भी भाषा मैं नहीं सीख पाया।

'गीता-रहस्य' का तमिल अनुवाद

'गीता रहस्य' का प्रकाशन १९१५ में हुआ। उसका तमिल अनुवाद १९५५ में प्रकाशित हुआ और वह भी बंगला अनुवाद से! यूरोप में ऐसा नहीं होता। किसी महत्वपूर्ण पुस्तक का अनुवाद तुरंत ही किया जाता है।

लिपि और शिरोरेखा

गुजराती लिपि में शिरोरेखा नहीं लगाते। मैं इसे अच्छा मानता हूं। पर हिन्दीवाले बहुसंख्य हैं, उन्हें कौन समझाये। इसलिए मैंने दोनों रखने की तरकीब सोची है। छपाई में शिरोरेखा रखी जाय। लिखावट उसके बिना रहे।

गुजराती की भांति उड़िया 'गीता-प्रवचन' भी नागरी लिपि में छप रही है।

... ...

पंपा याने हंपी

यह बेल्लारी जिला है। इसमें पंपा नाम के सरोवर हैं। भगवान् राम वहां पधारे थे। 'पंपा' से 'हंपी' परिणत हुआ है। गुजराती में जिस प्रकार 'स' का 'ह' बनता है, 'सवारे' को 'हवारे' कहते हैं, उसी प्रकार इधर भी कन्नड में 'प' का 'ह' हो जाता है। 'पंपा' से 'हंपा' और बाद में 'हंपी'।

इस जिले में हमने प्रवेश किया है। यह है हनुमान् का जिला, सबेरे यहां के लोगों ने बताया है।

दोड्डमंगलगेरे

१-१२-५७

: १० :

न किंचिदपि चिन्तयेत्

राम—'न किंचिदपि चिन्तयेत्', बिल्कुल चिन्तन न करते हुए चुप रहने की स्थिति का अनुभव कैसे किया जायगा ? कितनी देर तक इस अवस्था में रहा जाय ?

विनोबा—यह स्थिति कितनी देर तक रहे ? 'बिल्कुल चिन्तन न करें' यह निर्देश दिनभर के लिए नहीं दिया गया है। चाहे जब मन को निर्विचार करना संभव हो। गाढ़ी नींद में मिलनेवाला सुख प्राप्त होना चाहिए। निद्रा में जो सुख मिलता है उसे अगर न पाया जाय तो काम बनेगा नहीं। उससे प्रभूत शक्ति प्राप्त होती है। निद्रा से यह मिलती है। उससे अधिक समाधि से प्राप्त होती है।

१९३८ में मैं बहुत ही क्षीण होगया था। इसके कारण पौनार जाकर रहा। जाते-जाते पुल पर ही निश्चय किया कि सारी चिन्ता त्याग दी। वहां एक-एक घंटा शून्य मनोवस्था में लेटा रहता था। दो-चार किताबें केवल साथ ली थीं। चितारहित मन, योग्य अहार-बिहार और व्यायाम—यह रहा वहां का कार्य-क्रम। फल यह हुआ कि हर महीने चार पौंड वजन बढ़ता गया। इस प्रकार ३६ पौंड वजन बढ़ गया। जो खाता, हजम हो जाता, क्योंकि विकार तो कुछ भी था नहीं, और विचार भी पास फटकता नहीं था। 'न किंचिदपि चिन्तयेत्' के कारण स्वाधीन रहा। जिसके पास २५ एकड़ जमीन होती है, वह भी उसकी चिन्ता से परेशान हो उसका गुलाम बन जाता है। लेकिन आदमी अपने मन को निर्विचार, चिंतामुक्त कर सकता है, तब वह स्वाधीन बनता है। 'जब चाहों तब खोलों किंवरवा' इस स्वरूप

की स्वाधीनता मिलती है। सब बातों से, सब विचारों से अपनेको अलग करने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। जब यह शक्ति आत्मसात् हो जाती है तब मनुष्य अपने मूल रूप को पहुंच जाता है। नींद में भी वैसा होता है, पर तब अज्ञान रहता है। मूल रूप को पहुंच जाने पर शक्ति की कमी नहीं। निंदा-स्तुति आदि द्वंद्वों के आघातों का असर नहीं होता। वहां से अटूट धैर्य मिलता है। उसमें चौबीस घंटे रहने की बात नहीं उठती। जब उस स्थिति में पैठना हो तब पैठा जा सके।

कलचीकेरी
२-१२-५७

: ११ :

पुरानी स्मृतियां

दाल में दुगुना नमक

विनोबा—मां स्तोत्र पाठ करते हुए या भजन गुनगुनाते हुए रसोई पकाती थी। कभी-कभी दाल में नमक दिया या नहीं, इसकी उसे सुधि नहीं रहती थी। फिर वह नमक डाल देती। पहले नमक नहीं दिया, इस धारणा से फिर उतना नमक मिला देती जितना कि पहले देना होता था। इससे दाल में ज्यादा नमक पड़ता। मुझे कॉलेज जाना होता था, इसलिए मैं पहले खाने बैठता। पिताजी बाद में खाते। लेकिन उस समय अन्याय विषयों के अध्ययन में मैं इतना मशगूल रहा करता कि दाल में बिल्कुल नमक नहीं पड़ा या दुगुना पड़ गया, इसका भान मुझे नहीं होता था। भोजन खतम करके मैं चला जाता। बाद में जब पिताजी खाने बैठते तब मां से कहते, कितना नमक डाला है दाल में? सब लोगों के भोजन के उपरांत मां भोजन करती। उसे और लोगों की तुलना में ज्यादा नमक लगता। पर वह दाल दुगुनी नमकीन देखकर उसे दुःख होता। उसे लगता—'कितना नमकीन कर दिया मैंने इस दाल को!' जब मैं कॉलेज से घर लौट आता तब वह मुझसे पूछती—'विन्या, दाल में

दुगुना नमक पड़ गया था, तुमने क्यों नहीं बताया ?' मैं जवाब देता—'मुझे महसूस हो तब न मैं कहता ? मैं कुछ भी नहीं समझ पाया।'

... ...

हमारा शाम का टहलना

शाम को हम टहलने जाते। सुदूर एक टीले पर बैठकर चर्चा चलाते। सूर्यास्त देखते। सूर्यबिंब नीचे डूब जाता। अनंतर संध्याराग का लोप होता। पक्षियों की चहचहाहट बंद हो जाती। आदमियों की आवाजें नहीं सुनाई देती थीं। फिर पहले एक सितारा दीख पड़ता, तुरंत और तारे दिखाई देने लगते। आठ बज जाते। तब हम लौट पड़ते। घर आते-आते ८॥ बज जाते। मां बाट जोहती रहती और सब भोजन कर चुकते।

... ...

अंग्रेजी निबंध

एक बार हमारे कक्षाध्यापक ने—'विवाह-विधि का वर्णन' (A description of a marriage ceremony) पर अंग्रेजी में निबंध लिखने को कहा। पर चूंकि मैं कभी शादी-ब्याह में नहीं गया था, उसकी विधि कैसे जानता। पर निबंध लिख दिया। एक युवक ने ब्याह किया। उससे वह कैसे दुखी हुआ तथा औरों को भी उसने कैसे दुखी किया इसका एक काल्पनिक चित्र मैंने खींचा। शिक्षक ने लिखा—'यद्यपि सवाल का जवाब इसमें नहीं, तो भी प्रतिभा की चमक दीखती है।' १० में से ७ अंक दिये।

ताने के कारण बाल-बाल बचा

मोघेजी घर छोड़कर मेरे पास आश्रम में आये, इसलिए उनके पिताजी मुझपर बहुत रुष्ट थे। वह कहते—'विनोबा ने उसे 'किडनप' किया (भगाया) है। उन्हें मैंने एक पत्र लिखा। उसमें लिखा था कि अदालत में यह साबित नहीं हो सकेगा कि मैंने उन्हें भगाया। वह उम्र में मुझसे पांच साल बड़े थे। उन्हें मैं 'किडनप' कैसे करता ? उम्र में बड़ा व्यक्ति अगर स्त्री हो तो माना जा सकेगा कि उस स्त्री को वह पुरुष किडनॅप करेगा। पर प्रस्तुत उदाहरण में

वह भी बात नहीं। इसलिए आप मुझपर यह इलजाम नहीं लगा सकते। लेकिन उनका गुस्सा बना ही रहा। मोघेजी घर नहीं जाते थे। उन्होंने पिताजी को लिखा कि वह एक बार आकर आश्रम देख लें। उस समय आज की बजाजवाड़ी में घास के बंगले में हम रहते थे। जब वह आये तब हम 'पांजण' कर रहे थे। उन्होंने अपनी लाठी जोर से ताने पर दे मारी। सैकड़ों तार टूट गये। मैं ताने के दूसरे छोर पर था। वह मेरी ओर आये। पर मुझपर गुस्सा नहीं उतारा। कुछ बोले ही नहीं। वह अपना गुस्सा ताने पर उतार चुके थे। शाम को मोघेजी मेरे पास आये और बोले—अच्छा ही हुआ कि तार टूट गये। अगर आप पहले मिलते तो उनकी लाठी आपके सिर पर बरस पड़ती।

... ...

जेल में मेरा दुःख

हम थे सिवनी जेल में। मैंने इन्कार किया था नातेदारों और अन्यों में फर्क करने का। इस वजह से मैं किसीको भी पत्र नहीं भेजता था। तीन साल गुजर चुके थे। हमेशा आनंद में रहता। एक दिन मालूम नहीं क्या सोचकर जेलर मेरे पास आकर बड़ी देर तक बैठा रहा और बोला, "क्या आपके जीवन में एक भी दुःख नहीं?" मैं बोला, "है, क्यों नहीं? पर वह क्या है, आप ही पहचानिये। सात दिन की मुहलत देता हूं।" वह एक हफ्ते के बाद आया और बोला, "मुझे तो कोई दुःख नहीं दीख पड़ता। आप ही बताइये न।" मैंने कहा, "यहां जेल में सूर्योदय तथा सूर्यास्त नहीं नजर आते। यही मेरा दुःख है।"

कलचोकेरी
२-१२-५७

: १२ :

मेरा ध्यान और ब्रह्मचर्य का स्वरूप

मैं—आप कहते हैं कि हर रोज अंतरात्मा के मंगल गुणों—सत्य, प्रेम,

करुणा आदि का ध्यान किया जाय। हम जानना चाहते हैं कि आप यह ध्यान किस प्रकार करते हैं ?

विनोबा—मैं मौन धारण करता हूं। किसी भी प्रकार का चिंतन नहीं करता। उस शांति में से सत्य, प्रेम, करुणा आप-ही-आप उमड़ आते हैं। सब मंगल गुणों में इन्हीं तीन गुणों को मैं श्रेष्ठ मानता हूं। ब्रह्मचर्य, निर्भयता, अहिंसा आदि गुण इन्हींमें अंतर्भुक्त हैं।

ब्रह्मचर्य करुणामूलक

ब्रह्मचर्य के मानी कठोर संयम, कठोर अनुशासन है, तो उसका अंतर्भाव करुणा में कैसे ? लेकिन मैं उसे करुणामूलक ही मानता हूं। जो सहज ब्रह्मचारी हैं, वे सब करुणा-प्रधान हैं। अन्य कारणों से भी ब्रह्मचर्य साधना करनेवाले हैं। कोई अध्ययन के लिए, कोई पितृवचन पालन के हेतु, कोई देश-सेवा के वास्ते कठोर अनुशासन में रहकर ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं। वे सब बड़े और आदरणीय हैं। लेकिन मैं तो ब्रह्मचर्य को करुणामूलक मानता हूं। जब मैं पवनार में रहता था, उन दिनों एक बार जमनालालजी मेरे पास आये और बोले, "चलिये, लक्ष्मीनारायण मंदिर में कृष्णजन्म देखने चलें।" मैं वहां गया। देवकी लेटी हुई थी। उसका पेट फूला हुआ था। सांस लेने में तकलीफ होती थी। वह वेदनाएं अनुभव कर रही थी। यह सब बड़ी खूबी से उस गुड़िया में प्रदर्शित किया गया था। पर उसे देखकर मुझे यकीन हुआ कि देव अजन्मा है। जन्म लेकर वह ऐसा दुःख अपनी माता को क्यों देने लगा ? मैं पवनार लौट आया और आश्रम में आने पर गीता का चौथा अध्याय पढ़ गया :

अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानां ईश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वां अधिष्ठाय संभवाम्यात्म-मायया॥

यह श्लोक उस अध्याय में है। वह अजन्मा है। जनन जैसी दुखदायी क्रिया वह क्यों कर करेगा ? माता को भी दुःख और बालक के लिए भी दुःख-ही-दुःख। इसलिए ब्रह्मचर्य की प्रेरणा करुणा में है। मुझे लोग कठोर मानते हैं और उसमें तथ्य भी है। उनका वह अनुभव सही है। कहते हैं कि अब मैं जरा बदल गया हूं। लेकिन वास्तव में पहले से ही मैं करुणा से भरा

हुआ हूं। अपने जैसा करुणापूर्ण व्यक्ति मैंने और नहीं देखा। मैं घर पर था। मेरे दोस्त चाय पीते और अन्य बातें भी करते। उनपर मैंने कठोर प्रहार किये हैं। पर उन्होंने चाय नहीं त्यागी। फिर भी मैंने उनका त्याग नहीं किया और वे मुझसे इतना प्यार करते हैं कि वे अपनी पत्नी, मां, बाप, नातेदारों का त्याग कर मेरे पास रहे हैं। मेरे भाइयों की भी वही कथा है। मेरे साबरमती जाने पर घर पर उनसे नहीं रहा गया। घर पर सब बातों की अनुकूलता रही। इसके बावजूद वे मेरे पास आये। उसका कारण है मेरी करुणाशीलता। गृहस्थी करनेवाले को दुनिया दयालु, कृपालु मानती है और ब्रह्मचारियों को कठोर। ज्ञानदेव ने भी ब्रह्मचर्यादि साधनों को कठोर बताया है '**ब्रह्मचर्यादि साधनें खरपूसें**', फिर भी मैं मानता हूं कि ब्रह्मचर्य करुणामय है। अनुभव के बल पर कहता हूं।

बुद्ध को करुणासिंधु कहा गया है। शंकराचार्य की भी प्रशंसा 'करुणालय' कहकर की है—'**श्रुति-स्मृति-पुराणानां आलयं करुणालयम्। नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्।**" बुद्ध ने भी कहा है—"**को नु हासो किमानंदो निच्चं पज्जलिते सति।**" यह सब मैंने पढ़ा बहुत बाद में, पर बचपन में ही यह बात मुझे हृदयंगम हो गई थी। रात को दरवाजे के सामने से बारातें जाया करती थीं। तब बैंड की ध्वनि सुनाई देती और मैं नींद से जाग पड़ता। मुझे वह बारात श्मशान-यात्रा के जैसी लगती। क्या मैं नहीं जानता था कि वे बारातें हैं? तो भी वे अंत्ययात्रा-सी लगती थीं।

अरसीकेरी
३-१२-५७

: १३ :

सूर्योपस्थान

इधर दस-पन्द्रह दिन हुए सूर्योपस्थान हुआ करता है। सबेरे ५ बजे पद-यात्रा शुरू होती है। सूर्योदय के समय विनोबाजी खेत में सूर्याभिमुख होकर खड़े हो जाते हैं और—

सत्येन लभ्यस तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥१॥
सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामाः
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥२॥

ये दो श्लोक कहकर सूर्य-बिंब के ऊपर आने तक ध्यानस्थ रहते हैं। उसके अनंतर—

पूर्णं अदः पूर्णं इदं। पूर्णात् पूर्णं उद् अच्यते।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय। पूर्णं एव अवशिष्यते॥

इस शांतिमंत्र के पठन से उपस्थान संपन्न होता है।

पहले मार्ग में पाठ पढ़ाया करते थे। अब यह सूर्योपस्थान हुआ करता है।

यह उपस्थान सूर्य का नहीं है। जिसने सूर्यचंद्रादि का निर्माण किया उस परमेश्वर का है। परम सत्य का उपस्थान है। भूलना नहीं चाहिए कि सूर्य उसका प्रतीक है।

"उद् वयं तमसः परि, ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं, (स्वः पश्यन्त उत्तरं) देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म, ज्योतिर् उत्तमं इति॥"

आरसीकेरी
३-१२-५७

: १४ :

भूदान की कहानी

प्रायः संध्या के प्रवचन के बाद विनोबा के साथ हम लोग घूमने जाते

हैं। आज भी गये थे। रास्ते के पास के खेत में रास्ते से दूर विनोबा बैठ गये और उनके इर्द-गिर्द हम भी।

पीछे पड़ना चाहिए

कांतिभाई बोले, "आपका व्याख्यान सुनकर लोगों के दिल में भावनाएं उमड़ पड़ती हैं। उनसे लाभ उठाना होगा। इसलिए आपके जाने के बाद तुरंत लोगों के पास जाकर दान-पत्र भरवा लेने चाहिए, इससे बहुत काम हो जायगा। जिस प्रकार आपकी अगाड़ी की टोली होती है, वैसी ही एक पिछाड़ी की भी चाहिए। बंबई में जयप्रकाशजी के भाषण के बाद लोगों में भावना की जागृति होती थी और दूसरे दिन उनके पास पहुंचने पर वे दानपत्र भर देते थे। अगर हम व्याख्यान के दस-पंद्रह दिन बाद गये, तो काम नहीं बनता। यहां भी यही करना चाहिए।

उत्तर प्रदेश में पहले चुनाव के समय

विनोबा—पर आदमी कहां हैं काम के लिए? यहां मेरे साथ लोग हैं, यही बहुत समझो, आगे और पीछे के कार्यकर्ताओं की बात तो दूर ही है। उत्तर प्रदेश में प्रथम चुनाव के दिनों में मैं घूमता था। सब लोग इसी काम में लगे हुए थे। उस वक्त भूदान की सभा अकेले विनोबा की ही भारतभर में हुआ करती थीं। आगे-पीछे जानेवालों की बात ही क्या, साथ में भी कोई नहीं था। मेरे साथ करणभाई थे। उन्होंने तो इस क्रांति-कार्य में ही रहने का निश्चय किया था। खुद उनको चुनाव के लिए खड़ा नहीं रहना था; लेकिन कृपालानीजी के लिए प्रचार करना उनके जिम्मे आ गया था। गुरु का इतना ऋण तो मान ही लेना चाहिए न? उन्होंने पन्द्रह दिन की रुखसत चाही और मैंने उन्हें दे दी। कोई साथी नहीं था, मैं अकेला ही घूम रहा था। तो भी स्वागत के लिए तथा सभा में लोग इकट्ठे होते थे। पर काम कहने लायक नहीं हो रहा था। ऐसी हालत में दो मुसलमान भाई मेरे पास आये। वे या तो भाई-भाई थे, या एक-दूसरे के रिश्तेदार थे। उनके साथ भूदान और कुरान के बारे में खुले दिल से चर्चा हुई। उन्होंने अपनी ११ हजार एकड़ भूमि दान में देने का इरादा जाहिर किया। उस आम चुनाव के समय में यह खबर अख-

बार में छपी। लोगों को उसके बारे में सानंद आश्चर्य लगा। इसमें अचरज ही क्या था? लेकिन धर्मराज की भांति, जिनके साथ में एक कुत्ता था, मेरे कोई साथी न था। दानपत्र भी बड़ी तादाद में नहीं मिल रहे थे। यह स्थिति उसके पहले और बाद भी अनेक बार महसूस करनी पड़ी।

प्रथम षष्ठांश दान

इसी बीच मेरी ओर तमिलनाड के जगन्नाथन् आये थे। उन्होंने पत्र लिखकर पूछा था—"क्या मैं आ जाऊं?" मैंने उन्हें आने को लिखा था, जिसके अनुसार वह आये थे। वह मेरे साथ चार-छः महीने रहे। उस वक्त मुझे कभी १० एकड़, कभी १२ इस प्रकार जमीन मिलती थी। वह सब कुछ देख रहे थे। एक दिन जमीन दान में मिलने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे थे। मेरे पास बैठे हुए एक आदमी से मैंने पूछा, "तुम्हीं क्यों नहीं देते जमीन? कितनी है तुम्हारे पास?" वह बोला, "एक एकड़। उसमें से आपको क्या दे दूं? मेरे पांच लड़के हैं।" मैं बोला, "समझो तुम्हारे छठा लड़का भी है। उसे तुम खिलाओगे या नहीं? मुझे ही वह छठा लड़का मानकर छठा हिस्सा दे दो। उसने मान लिया और दो गट्ठा जमीन दे दी। यही थी एक गरीब किसान से प्राप्त पहली जमीन। इस प्रकार उस दिन फाका टल गया। अन्य बड़े-बड़े किसान तथा जमींदार दूर खड़े थे। वे देखते ही रह गये।

तेलंगाना में

शुरू-शुरू में तेलंगाना में भी इसी प्रकार १०-१२ एकड़ जमीन हर रोज मिल जाया करती। कोई साथी नहीं था। तीनसौ लोग कत्ल किय गए थे। उस प्रदेश में कौन देगा साथ? पर उस समय मैं आठ-आठ घंटे काम करता रहता, आज की तरह पड़ाव पहुंचने पर अपने कमरे में नहीं बैठा करता था। इसी कारण तेलंगाना में १८ हजार एकड़ जमीन मिल गई।

विनोबा की अदालत

मैं बोला—तेलंगाना में अपने न्यायदान का काम किया, जो कि एक

खास बात-सी मुझे प्रतीत होती है। अन्यत्र कहीं वैसा नहीं हुआ।

विनोबा—दोनों पक्षों को सामने बुलाकर मैं कहा करता कि विनोबा की कोर्ट में दूसरे का अपराध कहना नहीं होता, केवल अपना किया हुआ कहना होता है। तब हरएक अपना अपराध कबूल किया करता। पर बीच ही में अगर कोई कहता कि 'उसने ऐसा किया,' मैं झट उसे टोक देता। और फिर उसमें कुछ कम-ज्यादा करके फैसला किया करता। सरकारी अधिकारी उसे लिख लेते और उसके अनुसार कागजात तैयार कर लेते। इस प्रकार हमारी अदालत काम करती।

बड़ी संख्या का जादू

बाद में उत्तर प्रदेश से बिहार में दाखिल हुआ। उत्तर प्रदेश में ५ लाख एकड़ भूमि मिल गई थी। बिहार में प्रवेश करने से पहले मैंने कहा था कि बिहार में चार लाख एकड़ जमीन मिलनी चाहिए। बिहार के लोगों ने बताया कि बिहार में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा जमीन कम है, यह मांग घटानी होगी। मैंने कहा—मांग हरगिज कम नहीं होगी, नहीं तो विंध्यप्रदेश की पदयात्रा का संकल्प तय हो रहा है, उधर ही चल निकलेंगे। तब बिहारी लोगों ने सोचा—उन्हें आने तो दीजिये, मिल ही जायगी कई लाख एकड़ जमीन। और इस विचार से मांग कबूल की। हम बिहार में प्रवेश कर गये। बुद्ध-जयंती के दिन जब रांका के महाराजा ने पूछा—"कितनी है आपकी मांग," तब मैंने कहा—परती जमीन सब और उपजाऊ जमीन का छठा हिस्सा दीजिये। उसके अनुसार उन्होंने परती जमीन एक लाख एकड़ तथा उपजाऊ उत्तम जमीन का छठा हिस्सा याने २ हजार एकड़ दान में दे दी। तब मैंने घोषित किया कि बिहार में मुझे ५० लाख एकड़ जमीन मिलनी चाहिए। लोगों के कहने से घटाकर वह मांग ४० लाख एकड़ कर दी। बाद में बैजनाथबाबू आये। उन्होंने जिलावार आंकड़े बताकर कहा कि यह मांग ज्यादा है। तब हिसाब करके ३२ लाख की मांग निश्चित की। लेकिन बिहार की २७ महीने की पदयात्रा में २२ लाख एकड़ जमीन मिली। बड़ी संख्या का यह जादू है। मैं बात करता था ५० लाख की, कार्यकर्ता लोग भी बड़ी संख्या की मांग पेश किया करते। इसीका परिणाम यह हुआ

कि बिहार में २२ लाख एकड़ भूमि—सबसे अधिक भूमि—प्राप्त हुई। ३२ लाख का संकल्प अधूरा रह गया, और में अब बिहार छोड़ने को था। इसका वहां के लोगों को बड़ा रंज हुआ। लेकिन उसके लिए मुझे बिहार में ही रोक रखना कार्य में अड़ंगा डालने जैसा होता। इसलिए बाकी संकल्प पूरा करने तथा प्राप्त २२ लाख एकड़ का बंटवारा करने की जिम्मेदारी जयप्रकाशजी ने अपने ऊपर ले ली और मुझे मुक्त किया।

उड़ीसा में एक हजार ग्राम-दान

विहार से बंगाल होकर में उड़ीसा में प्रविष्ट हुआ। वहां सैकड़ों ग्रामदान पहले ही मिल गये थे, तो भी गंजम जिले में प्रवेश करने के समय तक काम बताने लायक नहीं हो रहा था। नवबाबू, गोपबाबू, रमादेवी, मालतीदेवी जैसे लोग कष्ट उठा रहे थे। लेकिन कौन जाने क्या हुआ, मेरे प्रवेश के बाद काम आगे बढ़ नहीं रहा था। गंजम से काम फिर से बढ़ने लगा और कोरापुट में तो एक हजार ग्रामदान मिले।

तामिलनाड में कार्य असंभव नहीं

इन ग्रामदानों की कहानी जब जगन्नाथन् के कानों तक पहुंची, तब उसने मुझे पत्र लिखा कि यहां तामिलनाड में ग्रामदान मिलना बिल्कुल असंभव है। पहले जब गंगा-किनारे की सुंदर जमीन मिली तब वह बोला था कि तामिलनाड में कावेरी-किनारे की जमीन, जो गंगातीरस्थ भूमि की भांति ४ हजार से लेकर ७ हजार तक फी एकड़ मूल्यवाली है, मिलना संभव नहीं। अब वह ग्रामदान असंभव बताता था। मैंने उसे लिखा—तामिलनाड में ग्रामदान अवश्य मिलेंगे। इसके कारण हैं दो : (१) संपूर्ण तमिल साहित्य में जमीन की मालकियत नाम की वस्तु नहीं पाई जाती, और (२) सब गांव मथुरा की भांति मंदिर के चारों ओर बस गया है, जैसे इधर वह बाजार के चारों ओर बस गया है। मंदिर को केन्द्र बनाया गया है, इसका अर्थ है देवता ही ग्राम का स्वामी है। सारा गांव, सारी जमीन उसकी है। वह राजाजी के पास गया था, अपने भूदान-कार्य में आशीर्वाद मांगने। पर उन्होंने कहा—तामिलनाड में भूमि मिलना, कावेरी

किनारे की उपजाऊ भूमि मिलना, मुझे असंभव-सा लगता है। उत्तर की बात ही अलग है। उधर बाबा का रौब जम गया है, पर इधर आबादी घनी होने के कारण काम नहीं बनेगा। वह गया था असीस मांगने, उसे यह असीस मिला!

तामिलनाड की चट्टान

आंध्र होकर मैं तामिलनाड गया, पर वहां शुरू के आठ-नौ महीने कुछ फल नजर नहीं आया। कोयम्बटूर सेलम में तो हद होगई। मेरी यात्रा दिन में दो बार हुआ करती। व्याख्यान बहुत हुआ करते। लोग कहते, आपके ये व्याख्यान देहाती लोग समझ नहीं सकते। किनके लिए आप व्याख्यान दे रहे हैं? मैं कहता—वे अखिल भारत के लिए हैं। कुरल, माणिक्यवाचकर आदि लेखकों का अध्ययन मैंने जारी रखा था। उनके वचन, उनकी सूक्तियां उद्धृत करके मैं व्याख्यान देता था। लेकिन कोई फल हाथ नहीं लगता था। सेलम तो राजाजी का जिला, नाम के अनुसार चट्टान, सूखा पत्थर ही ठहरा। उसके बाद इतने दिनों की तपस्या फलद्रूप होगई। मदुराई जिले में गांधीग्राम में हम ठहरे थे। जी. रामचंद्रन् और मंडली के सामने में एक बार बोला, "मैंने तीस-तीस साल रचनात्मक कार्य किया, बैठे-बैठे। आप भी रचनात्मक कार्य अपनी संस्था में कर रहे हैं। मुझे बताइये कि यह जो मैं घुमक्कड़ी करके प्रचार कर रहा हूं, उसे बंद कर दूं या जारी रखूं? आपके कहे अनुसार करूंगा।" इसका असर उनपर पड़ा और प्रार्थना के बाद जी. रामचन्द्रन् ने मेरे पास चिट्ठी भेजी—आपका भूदान-कार्य ही योग्य है। हृदय को तो वह कबका छू गया है, लेकिन बुद्धि नहीं मान रही थी। अब में उसे मान गया हूं और हम यह कार्य आगे बढ़ायंगे।

केरल में ढाईसौ ग्रामदान

इसके बाद केरल में प्रवेश किया, पर वहां भी पालघाट पहुंचने तक कोई काम कहने योग्य नहीं हुआ। केरल में बैठते ही मैंने पूरे केरल के दान की बात कह दी। लोग कहते—कम्यूनिस्ट शासन है, यहां बाबा की

दाल नहीं गलेगी। शुरू में वही आसार नजर आये। लेकिन आगे चलकर परिवर्तन हुआ। केरल में भी ढाईसौ ग्रामदान प्राप्त हुए।

कर्नाटक का नाटक

उसके अनंतर यात्रा कर्नाटक में आई है। यहां कार्यकर्ताओं का अभाव है। कुछ भी काम नहीं होता। धारवाड़ तक इन्तजार करूंगा। उसके बाद अगर काम में जोश आ गया तो ठीक, नहीं तो तेलंगाना के समान खुद ही कमर कस लेने की सोच रहा हूं। यहां बेंगलूर में आश्रम की स्थापना करनी है। यहां का काम जबतक ठीक नहीं होगा, दक्षिण छोड़ जाने का नाम नहीं लूंगा। इसीको हमारा वाटरलू समझिये।

: १४ :

संस्कृत भाषा और गीतोपनिषद्-पाठ

मैं—विनोबाजी, शाम को जो स्थितप्रज्ञ-विषयक श्लोक बोले जाते हैं उनमें 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्' बोला जाता है, उसके बदले 'आपूर्यमाणं अचल प्रतिष्ठम्' ऐसा पदच्छेद करके बोला जाय। इससे छंद भी सुरूप होगा और अर्थबोध भी सुगम होगा।

दूसरी बात, प्रातःकाल हम जो ईशोपनिषद् का पाठ करते हैं उसमें न पद-पाठ पूर्णतया रहता है न वाक्य-पाठ। इसके बारे में कुछ व्याख्या चाहिए।

धातूपसर्गों का विलगीकरण

उपसर्गों को तोड़कर पढ़ने का तरीका जो आपने अपनाया है, वह उन्हें विशेष महत्त्व देने की दृष्टि से उचित ही है। हां, उसके कारण छंद गायब हो जाता है। पर जब छंदोबद्ध रचना को गद्यवत् बोला जाता है तब ऐसा करने में बाधा न रहे।

गद्य गेय, पद्य पाठ्य

मराठी ईशोपनिषद् गद्य होते हुए भी पद्यवत् बोला जाता है, और मूल संस्कृत छंदोबद्ध होते हुए भी गद्यवत् बोला जाता है, यह बड़ी मजेदार बात है आपकी।

विनोबा—स्थितप्रज्ञ-विषयक संस्कृत श्लोक चरणशः बोलना हो तो एक चरण दूसरे चरण से अलग ही बोला जाय, संधि न की जाय। परंतु चरणांतर्गत बदल करने से अनवस्थाप्रसंग आ पड़ेगा। कोई भी कैसा भी बोलेगा और किन्हीं दो के पठन में मेल नहीं रहेगा।

विवक्षा-पाठ

मैं—यह नहीं होगा। एक विवक्षा-पाठ बनाकर वही सब बोलेंगे। यह हो सकता है। उससे छंद सुबद्ध होगा और अर्थबोध भी सुलभ।

पद-पाठ भाष्य का ही एक तरीका

विनोबा—लेकिन यह करने में संहिता खंडित होगी। पद-पाठ के मानी भी संहिता का भाष्य करना है। पदच्छेद का ढंग कौन तय करेगा? वेद का जो पद-पाठ है, उसे मानना ही चाहिए, सो बात नहीं। वह ऋषिदृष्ट नहीं। संहिता ऋषिदृष्ट है।

वेद संहिता नहीं, अक्षरराशि

मैं—वेद केवल संहिता नहीं, वह अक्षरराशि है। अक्षरों का समुच्चय। प्रत्येक अक्षर स्वतंत्र है। पद और अर्थ की झंझट ही नहीं।

विनोबा—जिस समय वेदमंत्रों की रक्षा ही एकमेव सर्वोपरि कर्तव्य था तबका वह विचार है।

मैं—लेकिन विचार सर्वकालीन नहीं हो सकता। पद-पाठ, निघंटु, निरुक्त, व्याकरण, भाष्य आदि प्रपंच से यह स्पष्ट है कि वह सर्वकालीन नहीं है। इसलिए पुराने जमाने का विचार चाहे कुछ भी क्यों न हो, आज हमें जरूरत के मुताबिक उसे तराशना ही चाहिए, ताकि उसकी दमक

निखर उठे। जो चाहते हैं, पुरानी चीजें ज्यों-की-त्यों बनी रहें, उनके लिए संहिता है ही।

पद-पाठ और विवक्षा-पाठ का महत्त्व : एक उदाहरण

पद-पाठ भाष्य का ही एक तरीका है, आपका यह कहना मुझे मान्य है, क्योंकि उन्हीं अक्षरों का पद-विच्छेद भिन्न-भिन्न हो सकता है। यह पद-विच्छेद हरेक के अर्थनिश्चय पर निर्भर करता है। 'स येने न वक्ष्ये' उपनिषद्-वचन का यह पुराना पद-पाठ लिमयेजी ने 'सं एनेन वक्ष्ये' ऐसा माना है, जो कि शंकराचार्य के और परंपरागत पाठ से भिन्न है। पर कोई भी स्वीकार करेगा कि यह अधिक समर्पक है।

इसमें 'सं' उपसर्ग पद धातु से दूर पड़ गया है। इस उपनिषद् वचन का वैदिक भाषा में होना इससे सिद्ध है। वेद में उपसर्ग सर्वदा अलग आते हैं, इसलिए आपने उपसर्ग अलग करके उच्चारण करने का जो ढंग अपनाया है, उसे इससे और भी बल मिलता है।

विनोबा—तुम जो विवक्षा कहते हो, वह किसकी विवक्षा? ग्रंथकर्ता की या पाठक की? ग्रंथकर्ता की विवक्षा हम कैसे जान पायंगे?

मैं—विवक्षा वक्ता की होती है। पर मूल वक्ता ग्रंथकार ही रहता है। इसलिए उसकी विवक्षा, जैसी मैं समझ सकता हूं, रहेगी। इसके मानी यह कि ग्रंथकार और पाठक में भेद का कोई कारण ही नहीं।

सुसंस्कृत

विनोबा—संस्कृत का संधिप्रकरण बड़ा नटखट है। इसके कारण संस्कृत में बिना कारण के जटिलता आ गई है। इसीलिए मैंने सीधे पद-पाठ करना शुरू किया है।

मैं—आपने सब पदों को तथा उपसर्गों को भी अलग करने तक आगे कूच किया है, तो मेरा बताया हुआ विवक्षा-पाठ आप मान्य करेंगे। ऐसी संस्कृत को मैं सुसंस्कृत मानता हूं।

विनोबा—ठीक, सुसंस्कृत याने सुलभ संस्कृत।

संस्कृत की अमरता का रहस्य

मैं—संस्कृत को देवभाषा क्यों कहते हैं, इस बात का विचार करते

हुए मेरे ध्यान में एक बात आई है। संस्कृत की उच्चारण-पद्धति स्पष्ट, पूर्ण तथा समान है, इसीलिए वह दस हजार वर्ष तक जी सकी है। आगे चलकर भी वह इसी प्रकार जी जायगी। प्राकृत भाषाओं में यह गुण नहीं है, जिसके कारण उनमें वेग से स्थित्यंतर होते गये और अन्त में वे नष्ट हो गई। हमारी प्रादेशिक भाषाओं में जो ये परिवर्तन होते गये और हो रहे हैं उनके कारण उन्हें मर्त्य भाषाएं कहना पड़ता है।

'अंगरखा' शब्द वास्तव में 'अंग+रखा' है, पर अधूरे उच्चारण के कारण जिसमें 'ग' के बदले 'र' अधूरा बोला जाता है, वह आज अंगर+खा जैसा बोला जाता है। इससे शब्द में विकृति आती है और अर्थव्युत्पत्ति दुर्बोध बन जाती है। ऐसा भी भ्रम हो सकता है कि यह समरखा, अमरखा जैसे किसी मुसलमान का नाम है।

विनोबा—संस्कृत की ही भांति द्रविड़ भाषाओं में भी पूर्ण उच्चारण किया जाता है, जैसे नागपुर। इस शब्द का उच्चारण हम 'नाग्पुर्' करेंगे। इस उच्चारण में वे उसे समझ नहीं सकते, वे फिर से 'नागपूरा' जैसा उच्चारण करके निश्चिति कर लेते हैं। 'अ' का उच्चारण वे जरा लंबा—दीर्घ नहीं—करते हैं।

द्रविड़ भाषाओं ने इस गुण के साथ एक अवगुण—सन्धि—भी अपना लिया है। द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन में वह बहुत बड़ी रुकावट है। अब एक तमिळ आगम ग्रन्थ सन्धियों को अलग करके पदपाठमय छप गया है।

सुलभ संस्कृत

सन्धि-नियमों की जटिलता के कारण संस्कृत पिछड़ गई। प्राकृतें आगे बढ़ीं। बापूजी कहा करते थे—संस्कृत आध्यात्मिक भाषा है। लोग अत्यधिक व्यवहारी बने, जिसके कारण वह भाषा लुप्त-सी हो गई। पर आम जनता के लिए सरल संस्कृत भाषा तैयार करना सम्भव है। सब शब्द संस्कृत के और प्रत्यय हिन्दी के, इस ढंग से भाषा बनाई जाय, तो वह आमफहम हो सकेगी।

घनश्यामसिंह गुप्त जेल में हमारे साथ थे। वह कताई के वक्त '५ मिनट शेष' कहकर सूचना दे देते थे। पहले-पहल लोग उनके 'शेष' शब्द पर टीका-

टिप्पणी करते थे, पर अनेक महीनों के अभ्यास के कारण वह शब्द वहां रूढ़ बन गया, इतना कि उसमें कुछ विचित्रता का अनुभव नहीं होता था।

मैं—एस्परान्तो ऐसी ही एक आसान भाषा बनाई गई है।

विनोबा—पर वह यूरोपीय भाषाओं तक सीमित है। भारत के लिए संस्कृताभिष्ठित भाषा बनानी होगी।

हरपनहल्ली के मार्ग पर
४ दिसंबर १९५७

: १५ :

क्रतो स्मर, कृतं स्मर

विनोबा—तुमने लिखा था—" 'कृतं स्मर' का अर्थ अपना किया हुआ याद करो, हो सकता है।" पहले मैंने भी वैसा ही अर्थ किया था। पर अधिक सोच-विचार करने पर उसमें परिवर्तन करना पड़ा। स्मरण करना हो और वह भी अंतिम स्मरण तो ईश्वर का किया हुआ ही याने उसका हमपर किया महान् उपकार ही स्मरण करना ठीक होगा।

मैं—'**अंतकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥**' गीता में वर्णित इस प्रयाण-विधि से आपका अर्थ ठीक मेल खाता है। इसमें जो 'एवं' शब्द है, उससे अन्य स्मरण का निषेध स्पष्ट है और इसलिए आपका अर्थ—'अपने संकल्प छोड़कर' पूर्ण संतोषजनक मालूम होता है। अलावा इसके ईसा के इन अंतिम शब्दों से भी उसका मेल है : Thine will be done '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**' गीता के इस अंतिम उपदेश से भी वह पूर्णतया मेल खाता है। लेकिन 'क्रतो' संशोधन अपने क्रतु-संकल्प का त्याग करने नहीं, उसका विस्मरण न हो इस अर्थ में प्रयुक्त है यह मेरा खयाल है। इसीलिए पहले वाक्य में कर्म का निर्देश ही नहीं है। दूसरी बात, ईश्वर के 'कृतं'—उपकार—का स्मरण करो, कहने का प्रयोजन क्या? स्मरण करना है तो सीधे उसीका किया जाय. उसके 'कृतं'

का क्यों ? गीता भी तो उसीका स्मरण बताती है उसके 'कृतं' का नहीं। जड़भरत की कथा भी बताती है कि उसपर पशुयोनि में जन्म लेने की नौबत आ गई, क्योंकि वह ईश्वरपरायण होने का अपना संकल्प भूल गया था। यह कथा मेरे अर्थ को पुष्ट करती है। कार्यरूप 'कृतं' कारण रूप 'क्रतुं' के लिए ही प्रयुक्त है। मैं मानता हूं कि उसका यही अभिप्राय है।

विनोबा—घनश्यामदास बिड़लाजी ने एक बार लिखा था—"मैं आपकी किताबें पढ़ा करता हूं। आपकी 'ईशावास्यवृत्ति' मुझे बहुत पसंद आई। पर **'क्रतो स्मर, कृतं स्मर'** का मेरा अर्थ आपके अर्थ से भिन्न है।" 'ओ संकल्पमय जीव, अपने संकल्प का स्मरण करो और उसके अनुसार क्या-क्या किया (या नहीं किया) उसका स्मरण करो।' यह है मेरा अर्थ। यह अर्थ मेरे दैनंदिन जीवन से बिल्कुल मेल खाता है। दिन भर क्या-क्या करना है, मैं तय कर लेता हूं और उसके अनुसार दिनभर में क्या-क्या किया गया, मैं देख लेता हूं।" उनका यह अर्थ मीठा है। मैंने उन्हें लिखा 'क्रतो' के बदले 'क्रतुं' लेने पर आपका अर्थ ठीक लगता है। पर मैं अपने अर्थ पर दृढ़ हूं। यह तो निश्चय मानिये कि अंत समय में मैं ईश्वर को छोड़ और किसीका भी स्मरण नहीं करूंगा।

हरपनहल्ली के मार्ग पर
४-१२-५७

: १६ :

ज्ञानेश्वरी

महाराष्ट्र का धर्मग्रंथ

ज्ञानेश्वरी, रामायण, भारत, भागवत आदि ग्रंथ लोकभाषा में हैं। मूल संस्कृत ग्रंथों के वे अनुवाद हैं, तो भी उन्हें केवल अनुवाद मानना ठीक नहीं। उन्हें स्वतंत्र मौलिक ग्रंथ मानना चाहिए, क्योंकि उनमें उनकी विशेष दृष्टि रही है। केवल मूल कथा ज्यों-की-त्यों लोकभाषा में लाना उनका उद्देश्य नहीं। 'ज्ञानेश्वरी' महाराष्ट्र का धर्मग्रंथ है। बाइबिल, कुरान, भागवत आदि ग्रंथों

से तुलना करने पर वह कहीं भी घटा हुआ नहीं मिलेगा। मूल ग्रंथ समझकर ही उसका स्वाध्याय होना चाहिए। तमिल की कंब रामायण, तेलुगु का पोतन्ना-प्रणीत भागवत, उड़ीसा का जगन्नाथकृत भागवत, कन्नड़ का व्यास-रचित भारत, मराठी का मुक्तेश्वरकृत और मोरोपंत-प्रणीत भरत सभी ग्रन्थ ऐसे ही हैं। ज्ञानेश्वर **'भाष्यकारातें वाट पुसतु'**—अर्थात् भाष्यकार शंकराचार्य से मार्ग पूछते हुए—अपनी भावार्थदीपिका लिखते हैं। लेकिन अनेक स्थल ऐसे हैं, जहां उन्होंने अपने स्वतंत्र अर्थ बताये हैं, जिससे विश्वाकार की संभावना होती है। वह कर्म, वर्णविशिष्ट कर्म ही विकर्म, तथा जो करना उचित नहीं वह निषिद्ध कर्म यानी अकर्म। ऐसे अर्थ शांकर भाष्य के सामने रहते हुए भी बताये हैं। यहां उन्हें भाष्यकार से पूछने की आवश्यकता नहीं महसूस हुई। बारहवें अध्याय में बताये भक्त के लक्षण शंकराचार्य की सम्मति में निर्गुणोपासक के हैं, तो और सब टीकाकारों की राय में बारहवां अध्याय भक्तियोग का होने के कारण वे लक्षण सगुणोपासक के ही हैं। लेकिन ज्ञानेश्वर ने अपनी टीका में इन दोनों सम्मतियों को **'याहीवरी भजनशीलु माझां ठांई'** अर्थात् 'इनकी अपेक्षा भजनशील भक्त मुझमें रहता है' कहकर बड़ी खूबी के साथ लपेट लिया है। अंतिम निष्ठा के नाते ये लक्षण निर्गुणपरक हैं, यह शंकराचार्य का विचार उन्हें मान्य है। पर उसीके साथ **'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते, श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः'** यह बारहवें अध्याय का निष्कर्ष भी टाला नहीं जा सकता, यह भी वह नहीं भूले। ऐसे कितने ही स्थल बताये जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि इन सब ग्रन्थों का अध्ययन स्वतंत्र धर्मग्रन्थ के नाते किया जाना चाहिए। ईशोपनिषद् का मेरा गद्यानुवाद मौलिक मानकर उसीपर लिखने की सोच रहा हूं।

वैदिक भाषा और मराठी भाषा

विनोबा—ईशावास्योपनिषद्वृत्ति मैंने गु० नारायण शास्त्री के पास भेज दी थी। आमतौर पर वह उन्हें पसंद आई थी। 'जगत्' याने 'जीनेवाले' मेरे इस अर्थ पर उन्होंने आपत्ति उठाई थी।

मैं—जगत् अर्थात् गच्छत्, चरत् (चलनेवाला) अर्थ स्पष्ट है। चरा-

चर सृष्टि से जीवाजीव सृष्टि का मतलब हम जानते हैं। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' वचन प्रसिद्ध है। 'जगत्' जीनेवाले' समझने में कोई आपत्ति नहीं। मैं मानता हूं कि मराठी की धातु 'जगणें' जीना उसीसे निकली है। वह मूल में वैदिक है, यह मेरी धारणा है। मराठी के कई शब्द सीधे वेदों से निकले हैं, उदाहरणार्थ देव, एकमेक, अवाढव्य, वैसे ही 'जगणें' धातु आदि-आदि।

... ...

गीता नारिकेल-पाक

विनोबा—गीता नारियल के समान है, वह अंगूर के समान नहीं। युद्ध की कथा उसका कवच है, गांधीजी इस रूपक को मानते थे। वह कहते—वह उपनिषदों का देवासुर संग्राम है। तिलक उसे इतिहास समझते थे।

गीता और शंकर-तिलक अरविंद

शंकराचार्य कर्म-संन्यास का प्रतिपादन करते हैं, तिलक ज्ञानोत्तर कर्म का और अरविन्द मुक्ति के उपरान्त भी कर्म करने का प्रतिपादन करते हैं। इसके मानी यह कि मुक्ति अमुक्ति बन गई। उसमें भी अगर कर्म रहा तो वह मुक्ति कैसी ?

गीता और भागवत

भागवत भावप्रधान है, माधुर्य उसकी आत्मा है। अनुवाद में वह नहीं पकड़ा जाता। गीता अर्थप्रधान है।

: १७ :

अध्ययन की पद्धति

अध्ययन का विषय एक नहीं रहता। उसमें अनेक शाखोपशाखाएं विद्यमान रहती हैं। अनेक अंगोपांग हुआ करते हैं। उनमें से एक-एक को लेकर उसका चिंतन किया जाय। पहले समग्र दर्शन कर लिया जाय, बाद में अंगशः अध्ययन हो। अन्त में फिर एक बार समग्रता में उसे देखा जाय। प्रथम समग्र निरीक्षण में सूक्ष्म ज्ञान नहीं मिला हो, तो बाद में विश्लेषण करके अंगशः उसे देखा जाय। उसके सब अंगों को मिलाकर एकीकरण किया जाय। इस

प्रकार समग्र स्थूल दर्शन, पृथक्करण और एकीकरण करने पर अध्ययन पूर्ण हो जाता है। इतना करने पर जब जो अंश चाहते हैं तब वह मौजूद रहता है। घर पर मां क्या करती है? अलमारी में सब चीजें करीने से रख देती है और जब जो चीज चाहती है तब वह उसे झट मिल जाती है। तीसरे खाने में दाहिने कोने में अमुक बोतल में अमुक वस्तु है, वह कह सकती है। चाहे जब वह उसे ठीक निकाल लेती है। वैसे ही अध्ययन से ज्ञान की उपस्थिति समझिये।

कलचीकेरी,

२-१२-५७

: १८ :

धर्म-श्रद्धा और धर्म-निष्ठा

मैं—विनोबा, कल आपने कहा कि दुनिया में धर्म-श्रद्धा निर्माण हुई है, धर्म-निर्माण नहीं हुआ। आपका क्या आशय था?

विनोबा—आम तौर पर सत्य, अहिंसा आदि का विचार समाज में मान्य हो गया है। लेकिन किसी भी हालत में, चाहे जो हो, किसी भी कारण के लिए झूठ बोलना ही नहीं चाहिए या युद्ध करना ही नहीं चाहिए, यह निष्ठा निर्माण नहीं हुई। उदाहरण के लिए बसव कहते हैं—'काय-कवे कैलास'—अर्थात् शरीरश्रम ही कैलास है। इसे भला विचार मान लिया गया है। तो भी लड़की के लिए वर ढूंढ़ते समय यह सावधानी से देखा जाता है कि लड़की को कष्ट न उठाने पड़ें। इसका अर्थ यह है कि शरीरश्रम को धर्म नहीं मान लिया गया। निष्ठा के रूप में उसे प्रतिष्ठा नहीं मिली। अहिंसा श्रद्धा के रूप में मान्य है, लेकिन किसी भी कारण के लिए लड़ना ही नहीं चाहिए, यह निष्ठा नहीं पैदा हुई। युद्ध करना गलत माना गया, पर उसे वर्ज्य नहीं माना गया। संग्रह नहीं करना चाहिए, यह अपरिग्रह की श्रद्धा पैदा हुई। लेकिन चोरी को दण्डनीय अपराध माना गया है, वैसा संग्रह को नहीं माना गया। चोरी बरदाश्त नहीं की जाती, संग्रह किया

जाता है। इसका अर्थ यह कि श्रद्धा पैदा हुई, पर निष्ठा नहीं।

महम्मद का शस्त्रधारण

परिस्थिति के कारण आदमी गिर जाता है। महम्मद मक्का से मदीना भाग गये। पर वहां भी विरोधियों ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। वह सताये जा रहे थे। उनपर थूका जा रहा था। तब उन्होंने आत्मरक्षा के लिए शस्त्र धारण किया और अपने अनुयायियों से धारण कराया।

आज संसार में सर्वत्र धर्म-ग्रंथ फैले हुए हैं। बाइबिल दुनिया की सब भाषाओं में प्रकाशित हुआ है। उसका प्रसार दुनिया भर में हो गया है। उसके साथ-ही-साथ दुनिया का शस्त्रसंभार भी बढ़ चुका है। धर्म-ग्रंथों का इस कदर प्रसार दुनिया में पहले कभी नहीं हुआ था और शस्त्रसंभार भी इतना कभी नहीं बढ़ा था। इतना विज्ञान पहले दुनिया में था ही नहीं। सत्य नहीं बोलना चाहिए, ऐसा कोई नहीं कहेगा और न कोई सिखायेगा भी। घर बांधते समय हम दीवारें, खम्भे आदि बंधवाते-गड़वाते हैं, और हम जानते हैं कि इसमें गलती होने पर घर टिक नहीं पायेगा। पर सत्यादि नीति-धर्मों के विषय में इस प्रकार की निष्ठा हममें दृढ़मूल नहीं हो गई है।

मनु और पीनल कोड

'अदंड्यान् दंडयन् राजा दंड्यांश्चापि अदंडयन्। नरकं समवाप्नोति', यह मनु की उक्ति है। दंडनीय अपराधी को सजा देनी चाहिए। अगर वह वैसे ही छूट गया तो वह बड़ा अधर्म होगा, अन्याय होगा, यह उनकी धारणा थी। लेकिन आज का पीनल कोड दंडनीय अपराधी बिना दंड पाये रह जाय तो उसमें दोष नहीं मानता। पर अदंडनीय निरपराध आदमी दंड का शिकार हो जाय तो बड़ा अधर्म माना जाता है, यह मनु की अपेक्षा प्रगति है। यह समाज की प्रगति है, उन्नति है। पर दंड का शिकार कोई भी न हो, कोई भी दंडनीय नहीं है, सब शिक्षणीय हैं, सुधार के ही लायक हैं, इन विचारों तक समाज की उन्नति नहीं हो गई है।

न्याय और दया

मैं—विचार से परिवर्तन होगा, सुधार होगा, लेकिन तबतक राह देखने को हम तैयार नहीं। मैं मानता हूं कि इसलिए दंड-शक्ति समाज में

स्वीकृत हो गई है।

विनोबा—जिसने मृत्युदंड पाने योग्य गुनाह किया है उसे फांसी पर लटका देना ही चाहिए, वगैर उसके न्याय नहीं होगा, यह मान्यता पहले थी। अब हम कहते हैं कि न्याय में दया रहे। पर न्याय के घर के एक कोने में दया को स्थान दिया गया है, यही इसका मतलब है। लेकिन दया ही की जाय, वही न्याय है, इस विचार को अबतक मान्यता नहीं मिली। जो फांसी की सजा पा गया है, वह राष्ट्रपति के पास दया की याचना करे। राष्ट्रपति देखेंगे कि वह खूनी दयापात्र है या नहीं, उसके गुनाह में कहीं 'ग्रेस' की गुंजाइश है या नहीं, और तव दया करेंगे, और फांसी के वदले आजन्म कालेपानी की सजा फरमायेंगे। पर फांसी की सजा ही रद्द की जाय यह विचार मान्य नहीं हुआ है। रामदास गांधी की कोशिश थी कि गांधीजी के खूनी को फांसी पर न लटकाया जाय। हृदय-परिवर्तन के लिए अवसर दिया जाय। यह मन बहुत विशाल है। पर समाज और सरकार को यह मंजूर नहीं था।

इसलिए अपने ग्रंथ ज्यों-के-त्यों हम नहीं स्वीकार कर सकेंगे। उनका सुधार करके ही उन्हें चुनना चाहिए। क्या 'मनुस्मृति', क्या अन्य ग्रंथ, इस प्रकार कड़ी जांच के बाद ही लेने पड़ेंगे।

शंकर, ज्ञानदेव और गांधी

मैं—इसलिए आपका सार श्लोक और विशेषकर **'जीवनं सत्यशोधनम्'** वाला चरण मुझे वहुत भाता है।

विनोबा—शंकराचार्य का जगन्मिथ्यावाद असत्य नहीं। पर वहां मिथ्या शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है और इसका अर्थ है, जो सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं। लेकिन आज 'मिथ्या' का अर्थ झूठ लिया जाता है, जो कि भ्रांत है। इसमें मैंने कुछ सुधार कर लिया है—**जगत् स्फूर्तिः**। इसमें मैं तीनों प्रकार से सहचार्यता चाहता हूं। **'ब्रह्म सत्यम्'** शंकर का **'जगत्-स्फूर्तिः'** ज्ञानदेव का **'त्यागजीवनं सत्यशोधनम्'**, गांधीजी का ऋण है। इन तीनों से मैंने बड़ा समाधान पाया है।

सामने घना अंधकार हो तो उसपर प्रकाश-पुंज छोड़ना विज्ञान-निष्ठा

है। सामने द्वेष का आधिक्य है, तो उसपर बहुत प्रेम करना धर्म-निष्ठा है। लेकिन अबतक मानव-समाज में उसका आविर्भाव नहीं हुआ। सत्य, अहिंसा आदि श्रद्धाएं उदित हुई हैं, पर धर्म अबतक बना नहीं। **'धारणात् धर्मः'**।

मैं---बुद्ध की सम्मति में भी **'जीवनं सत्यशोधनम्'** सही है। **'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या वा स्फूर्तिः'**---ये वाद हैं। उनके बारे में उन्होंने मौन धारण किया है।

... ...

वे भी मनुष्य ही थे

विनोबा---लोग शंकराचार्य और बुद्ध की तुलना करते हैं, पर वे यह नहीं देखते कि शंकराचार्य ३२वें वर्ष में दिवंगत हुए और बुद्ध ८० साल तक जीवित रहे।

मैं---शंकराचार्य ने समाज की भ्रान्त धारणाओं के सामने सिर नहीं झुकाया। उन्होंने बिना हिचक मां के शव के तीन टुकड़े करके उसका दहन किया। इस उदाहरण से ऐसा प्रतीत होता है कि अगर वह बुद्ध की भांति दीर्घ आयु पा जाते तो कितनी ही क्रांतिकारी बातें कर देते।

विनोबा---बापू एक बार मुझसे बोले---"किसीने ईसा की कृष्ण के साथ तुलना की है, पर यह ठीक नहीं। ईसा ३२वें वर्ष में क्रूस पर लटक गये और कृष्ण १२५ बरस तक जीवित रहे।" आयु का विचार करना चाहिए। शंकराचार्य से मेरी तुलना करने में शंकराचार्य के लिए अन्याय होगा। वह भी मनुष्य ही थे। पर लोग इस बात को भूल जाते हैं।

कानहल्ली की राह पर,

५-१२-५७

: १९ :

कणिका—१

ज्ञानदेव की समाधि

बाळशास्त्री हरिदासजी ने ज्ञानेश्वर की समाधि के बारे में जो लिखा है वह मुझे पसंद आया। वह कहते हैं—लोग मानते हैं कि ज्ञानेश्वर ने खुदकशी की, पर उनका यह मन्तव्य सही नहीं। उन्होंने समाधि लगाई है। अब भी वह समाधि अवस्था में ही हैं। उनका शरीर नष्ट हुआ होगा, पर वह समाधि-स्थित हैं। इसलिए तो वह एकनाथ, तुकाराम को दर्शन देते हैं, उपदेश देते हैं।

बालकोबा—"इस प्रकार अगर मैं समाधि में बैठ जाऊं तो क्या मेरे सिर पर पत्थर रख देंगे?" मैं—"प्रयोग करके देखना पड़ेगा।"

बुद्धि ही प्रमाण

विनोबा—शेषानन्दजी ने सुझाया कि भागवत से चुने हुए श्लोकों में दशावतार-विषयक कई श्लोकों का अन्तर्भाव किया जाय। लेकिन उनमें एक श्लोक में बुद्ध का उल्लेख महावतार '**वादैर्विमोहयति**' से किया है, जो मुझे स्वीकार्य नहीं। इस कारण वे सभी श्लोक मुझे छोड़ देने पड़े।

मैं—भागवत का यह उल्लेख भ्रांत है। गीत गोविंदकार कवि जयदेव ने बुद्ध को कारुण्यावतार '**कारुण्यमातन्वते**' कहा है।

विनोबा—शंकराचार्य-कृत 'विवेक चूड़ामणि' से '**मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः**' आदि अंश मैंने चुन लिया, पर आगे उसीमें 'स्त्रोत्व नहीं चाहिए, स्त्री को ज्ञान प्राप्त नहीं होता और ज्ञान न हो तो मोक्ष प्राप्ति भी नहीं होती' आदि कहा गया है। जन्मांतर में जब कभी उसे पुरुष जन्म मिलेगा तब मोक्ष की सम्भावना होगी। चूंकि यह विचार गलत है, मैंने उस अंश को छोड़ दिया। मेरे हृदय में शंकराचार्य के लिए बड़ी भक्ति-भावना है, तो भी उनका लिखा हुआ सबकुछ मैं स्वीकार नहीं करूंगा।

रुईकरजी ने पूछा था—क्या ऐसा कोई धर्मग्रंथ है जो सबको

देने लायक हो। मैंने कहा—जी नहीं। फिर वह बोले—आप ही क्यों नहीं लिख देते ऐसा कोई ग्रंथ? तब मैंने उन्हें ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ के ग्रंथों के सार की जानकारी दी और इसी प्रकार तुकाराम और रामदास की रचनाओं से भी चुनाव करके 'पंचामृत' बनाने का विचार उनके सामने रख दिया।

मैं—इसके मानी है कि आपको व्यक्ति या ग्रंथ के प्रामाण्य की अपेक्षा बुद्धि-प्रामाण्य अभीष्ट है।

विनोबा—हम अपनी सम्मति बना सकते हैं, पर हर व्यक्ति अपनी सूझबूझ से ही काम लेगा।

बुद्ध-मत

मैं—बुद्ध की यही मान्यता है। वह कहते हैं—'हर व्यक्ति अपनी बुद्धि की कसौटी पर मेरा विचार कस ले। खरा उतरने पर उसे स्वीकार करे।' इसका नाम बुद्धि-प्रामाण्य। बुद्धौ शरणमन्विच्छ।

विनोबा—अमृतानुभव में ज्ञानेश्वर भी यही कहते हैं :

परी शिवें का श्री-वल्लभें। बोलिलें एणें चि लोभें।

मान् न; तेंहि लाभे। न बोलतां हि॥ अ० ३.३८

शंकर कहते हैं या विष्णु कहते हैं, इसी कारण हम किसी बात को नहीं मानेंगे।

स्वतंत्र बुद्धि के बिना ज्ञान मोर के पिच्छों की आंखों के समान है। आंखें हैं, पर दृष्टि नहीं।

मोराचां आंगीं असोसें। पिसें आहाति डोलसें।

आणि एकली दीठी नसे। तैसें तें गा॥ अ. १३.८३२

पंसु-कूल-धरं जन्तुं किसं धमनि-संथतं।

एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ध० ३९५

पांसुकूल याने रथ्याकर्पट, फेंके हुए चीथड़े। 'जन्तु' का अर्थ राधाकृष्णन् ने दिया नहीं। जन्तु याने प्राणी, जो केवल प्राणधारण किये हुए है, या जिसे मनुष्य करके पहचानना कठिन है। ऐसे व्यक्ति को ब्राह्मण याने आदर्श जीवन बितानेवाला कहना हो, तो विचार उठता है कि क्या यही

बुद्ध का नग्न मार्ग है ?

'न नग्नचरिया न जटा न पंका' आदि श्लोक में कहा है कि बाह्य स्थिति ब्राह्मण का लक्षण नहीं, आंतरिक शांति जैसे गुण ही ब्राह्मण-लक्षण हैं। मैंने इन दो निर्मवादी गाथाओं को एकत्र रखा है। विचार की कसौटी पर उन्हें कस लेना पड़ेगा। दोनों को ज्यों-का-त्यों नहीं लिया जा सकेगा। एक को ही स्वीकार किया जा सकेगा।

मैं—'नग्नचर्या' पद से मुझे लगता है, महावीरादि जैनों की तरफ अंगुलि निर्देश है। उस पर कुछ कड़ी नजर भी दिखाई देती है।

विनोबा—महावीर के बदन पर का वस्त्र कांटों में उलझकर फट गया, बाद में पहना हुआ वस्त्र भी चला गया। तब वह विवस्त्र घूमने लगे। वह अत्यन्त सुन्दर थे। नग्न रहना मुझे पसन्द है, सपने में कभी-कभी देखता हूं कि मैं नग्नावस्था में विचर रहा हूं। आंखों पर चश्मा और कमर पर धोती मुझे झंझट-सी लगती है।

लंगोटी पहनना, मौजी बंधन संस्कार है। वह है लक्षण सुसंस्कृतता का। पर वस्त्र-रहित रहना ही आदर्श है। वह प्रमुख लक्षण है। **'मुनियो वातारशनाः'** से वर्णित नग्नता-सम्प्रदाय वेद में भी पाया जाता है। यद्यपि यह बात है तो भी तुकाराम के वचन—**त्याच्या गलां माल असो नसो**—अर्थात् उसके गले में माला रहे या न रहे—के अनुसार ही बुद्ध का अभिप्राय है, और वही ठीक है।

कनाहल्ली की राह पर,

५-१२-५७

: २० :

स्थितप्रज्ञता की नितान्त आवश्यकता

मैं—आज संसार में आत्मज्ञान और सृष्टिज्ञान काफी मात्रा में है, तो भी क्या यह कहा जा सकता है कि समाज का दुःख घट गया है और मानव सुखी हो गया है ?

विनोबा—दुःख त्रिविध हैं : आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। लेकिन कौन-सा दुःख किस प्रकार का है, यह निश्चित करने में हमेशा मैं उलझन में पड़ जाता हूं। इसलिए अब शारीरिक, सामाजिक, मानसिक इस त्रिविध रूप में हम उसका विचार करेंगे।

शारीरिक दुःख आज बहुत ही कम हो गये हैं। पहले जन्मते ही कितने ही मर जाते थे। थोड़े ही बचते थे। इनमें से रोगों के कारण बहुत मर जाते, जीवनावधि में भी अनेक आपत्तियों से जूझना पड़ता। पर विज्ञान के कारण मृत्यु-संख्या घट गई है। रोग, दुःख, कष्ट, यातनाएं हट गई हैं। विज्ञान इतनी तरक्की कर चुका है कि बढ़ती आबादी पर कैसे रोक लगाई जाय, यह समस्या उठ खड़ी हुई है।

सामाजिक दुःख बढ़े हुए दिखाई देते हैं। लेकिन उनके भी निकट भविष्य में इलाज मिल जायंगे। सामाजिक बीमारियां आज व्यापक और सद्योविचारणीय बन बैठी हैं। पर पुराने जमाने की भांति आज कोई किसी की औरत को नहीं भगा ले जाता। रावण ने सीता को हरण किया। दुर्योधन ने द्रौपदी को विवस्त्र किया। ये बातें आज के समाज में नहीं हुआ करतीं। पहले एक राजा अनेक स्त्रियों से ब्याह कर लेता, जिसके कारण अनेकों बिनब्याहे रह जाते थे। वह स्थिति आज नहीं। पहले वधू को भगा ले जाना विवाह का एक प्रकार माना गया था। कृष्ण रुक्मिणी को उठा ले गया था। आज कोई भी यह नहीं कहेगा। आज सामाजिक दुःख बहुत-से नहीं हैं। जो हैं उन्हें शीघ्र ही दूर किया जा सकेगा। उनका निवारण अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से होगा। उनके बारे में जागतिक प्रबन्ध हो जायगा।

लेकिन मानसिक दुःख आज बहुत बढ़ गये हैं। मन पर अंकुश रखना आज की कड़ी आवश्यकता है, क्योंकि विज्ञान सौगुना बढ़ गया है, पर मन की शक्ति का विकास उसकी अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है, हालांकि वह पहले की अपेक्षा बढ़ गई है। पहले चोरी के लिए चोर के हाथ-पैर काट डालते थे। आज हम वैसा नहीं करते। आज के सवाल अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के यानी व्यापक होते हैं, जिनका निर्णय तुरन्त करना पड़ता है। इसलिए हम स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को जानने में लग गये हैं। पहले मन पर काबू रखने से काम चलता था, पर आज विज्ञान से अमर्याद विकास के

कारण केवल उससे काम नहीं बनेगा। अब तो मन के ऊपर उठने की आवश्यकता है। मन को खूंटी पर लटकाकर रखना चाहिए। वेदान्ती इस प्रक्रिया को मनोनाश कहते हैं। मन का नाश हो जाय तो क्या होगा, इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए। बुद्धि है। वह बुद्धि रागद्वेष से परे होकर संसार की समस्याएं सुलझा सकेगी। रागद्वेष का मिट जाना ही मनोनाश है। वही उन्नयन है। समाजवाद, साम्यवाद आदि शास्त्र समाज के प्रश्न हल नहीं कर सकते। उसके लिए बुद्धियोग ही चाहिए, स्थितप्रज्ञता की आवश्यकता है। किसी भी कारण से मनःक्षोभ होना नहीं चाहिए। ऐसी अक्षोभ्य शांति जहां होगी वहां यह समस्या हल होगी। प्रतापगढ़ पर का प्रदर्शन मन का खेल है, क्षोभ है। वह बंबई का सवाल नहीं हल कर पायेगा। राग-द्वेष दोनों ओर हैं, बगैर उनके ऊपर उठे यह प्रश्न नहीं सुलझ पायगा। इस रागद्वेष के कारण ही महाराष्ट्र का विकास रुक-सा गया है। दुनिया में ग्राम-स्वराज्य और विश्व-शासन दो ही बातें रहेंगी। बीच का सब टिक नहीं पायेगा। संयुक्त महाराष्ट्र, महागुजरात जैसे प्रश्न मूढ़ हैं। मन के ऊपर बिना चढ़े वे नहीं सुलझेंगे।

हुविनहडगली की राह पर,
ता० ६-१२-५७

: २१ :

कणिका—२

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभाग आत्मज्ञान

पिंड-ज्ञान और ब्रह्मांड-ज्ञान में से आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान मिलता है। पिंड-संशोधन से आत्मज्ञान और ब्रह्मांड-संशोधन से ब्रह्मज्ञान। पिंडसंशोधन से अगर केवल शरीरगत धातुसंस्था-प्रक्रिया आदि का निरीक्षण किया गया तो वह भौतिक ज्ञान होगा। आत्मज्ञान के लिए क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभाग का ज्ञान आवश्यक है।

शरीर-यात्रा, समाज-सेवा और चित्तशुद्धि

मानव शरीर, समाज तथा चित्त के लिए परिश्रम किया करता है। इन तीनों में से प्रथम चित्त-शुद्धि की साधना करके बाद में समाज-सेवा करने का उसका विचार रहता है। चित्त-शुद्धि के साथ वह शरीर का योग-क्षेम भी चलाता ही है। समाज-सेवा वैसी ही रह जाती है। इन तीनों में प्रधानता चित्तशुद्धि की है। लेकिन उसके बाद समाज-सेवा का स्थान रहना चाहिए। उसके बाद ही शरीर-यात्रा—यह क्रम रहे। वास्तव में तीनों को एक साथ ही चलना चाहिए।

धर्म-संकट

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं मुखम्'—इसका आशय क्या? किसीके पैरों में सौ तोले की चांदी की शृंखला चढ़ाई जाय, तो उसे बंधन नहीं माना जाता, अलंकार माना जाता है। वास्तव में वह बेड़ी ही है। लोहे को बेड़ी कहते ही हैं। वैसे धर्म और अधर्म में चुन लेना हो तो कोई भी समझदार व्यक्ति धर्म को ही चुन लेगा। लेकिन दोनों भी धर्म ही सामने आते हैं, और उनमें से कौन-सा अधिक हितकारी है यह सवाल उठ खड़ा होता है तब परख हो जाती है। तब सूक्ष्म विचार करना पड़ता है, और धर्म कौन-सा और मोह कौन-सा चुन लेना होता है। राम ने सीता को वन में त्याग दिया। कोई-कोई राम को इसके लिए दोष लगाते हैं। लेकिन जब यह प्रसंग आ पड़ा कि पति के नाते अपना कर्तव्य क्या है और राजा के नाते क्या है, इनमें चुन लेना है तब राम ने यह पहचाना कि मैं राजा हूं और मेरा पहला कर्तव्य है प्रजानुरंजन और अन्य कर्तव्य को उस मुख्य धर्म की बलिवेदी पर अर्पण किया। इनमें से पारिवारिक कर्तव्य हिरण्मय पात्र है।

रामचन्द्रजी कहते हैं—

स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥

पर सीता ने भी लक्ष्मण द्वारा संदेश भेजा है—**'वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा, तपस्विसामान्यमवेक्षणीया।**

अरविंद का उज्ज्वल अयश

श्री अरविंद की साधना सफल हो गई थी या नहीं? उनके शिष्य मानते हैं कि उनकी साधना पूर्णता को पहुंच चुकी थी और वह अव्यक्त रूप से अवतीर्ण हुए हैं। उनकी आध्यात्मिक सत्ता जगत में काम करने लग गई है। लेकिन इस बारे में मैंने एक बार कहा था कि अरविंद की साधना अयशस्वी हो गई है।

जगत में तीन प्रकार के लोग होते हैं। एक वे हैं जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपना ध्येय निश्चित कर लेते हैं, ठक्कर बाप्पा की भांति। दूसरे वे जो अंशतः सफल और अंशतः असफल होते हैं, सरदार वल्लभभाई के समान। तीसरे वे जो केवल ध्येयवादी हैं और अपना ध्येय इतना अलौकिक रखते हैं कि वहांतक कोई भी पहुंच नहीं सकता। अरविंद इसी प्रकार के थे।

मेरी साधना अधूरी

"आपकी चित्तशुद्धि पूर्ण हुई है या नहीं?"

—जबतक देह है तबतक साधना अधूरी है कहना चाहिए।

"पर आपमें कोई अशुद्धि है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।"

—दूसरे उसे समझ नहीं पाते। वही खुद देख सकता है। चंडोल पक्षी सूर्य की ओर उड़ान भरता है और दृष्टि की पहुंच से परे जाता है। पर वह सूर्य तक थोड़े ही पहुंच जाता है? पृथ्वी से वह १०००००० फुट ऊपर गया हो तो भी उसमें और सूर्य में अपार अन्तर रहता ही है।

पीठाधीश शंकराचार्य ने एक बार मुझसे पूछा, "आप भूदान-पद-यात्रा किसलिए कर रहे हैं?" तब मैंने जवाब दिया, "चित्तशुद्धि के लिए।" कई लोग भावनात्मक दृष्टि से देखते हैं। उन्हें आभास होता है कि अपनी साधना सफल हो गई। लेकिन मैं हूं गणिती; मैं अपनी साधना को ठीक नापता रहता हूं। मुझे प्रतीत नहीं होता कि अपनी साधना पूर्ण हुई। वैसा अनुभव किया जाय तो कहा जा सकेगा। पर अबतक तो वैसा अनुभव नहीं।

मार्ग पर का स्वागत

"मार्ग में आपके दर्शन तथा स्वागत के लिए लोग खड़े रहते हैं। उनके

लिए तनिक ठहरकर आप उनका स्वागत स्वीकार क्यों नहीं करते ? वैसा न करना अच्छा नहीं मालूम होता।"

—मेरी दो अवस्थाएं रहती हैं : ध्यानावस्था तथा सेवावस्था। जब मैं ध्यानावस्था में रहता हूं, या पड़ाव दूर का होता है तब मैं बीच में नहीं रुकता। लेकिन साथवालों ने सुझाया और जमा हुए लोग शांत-शुश्रूषु हों तो दो-एक मिनट के लिए ठहर जाता हूं और कभी-कभी बीस-पच्चीस मिनट भी भाषण में बिताता हूं।

मन को काबू में कैसे रखा जाय ?

बाह्य नियमन का असर नहीं होता। नियमन आंतरिक चाहिए। मन के कहे अनुसार बरतना नहीं चाहिए। बुद्धि का आदेश सुनना आवश्यक है। इस निर्णय पर पहुंचने से मन काबू में किया जा सकता है।

हिरेहड्गली के मार्ग पर,

ता० ७-१२-५७

: २२ :

शिवाजी : भानुदास : वल्लभाचार्य

हंपी विरूपाक्ष मंदिर में शिवाजी

इस बेल्लारी जिले में जो हंपी (विजयनगर) है वह हंपी विरूपाक्ष नाम से प्रसिद्ध है। वहां विरूपाक्ष महादेव का मंदिर है। पुराने जमाने में वहां भयानक जंगल था। शिवाजी महाराज अपने कर्नाटक-आरोहण में उस मन्दिर में गये थे। सैनिकों और अन्य लोगों को बाहर छोड़कर वह अकेले अन्दर गये। बहुत समय बीत जाने पर भी वह बाहर नहीं आये। क्या हुआ, देखने साथवाले लोग अन्दर गये। देखते क्या हैं कि महाराज समाधिस्थ बैठे हैं। वहां से बाहर जाना उन्होंने नहीं चाहा। वहीं रहने का अपना विचार उन्होंने व्यक्त किया। तब अमात्य ने कहा—हम तो यहां आरोहण के लिए आये हैं और बाहर सेना खड़ी है। तब वह समझ गये और वहां से

चल पड़े । यह घटना प्रसिद्ध नहीं है, पर इतिहासज्ञ उसे जानते हैं।

... ...

भानुदास का कार्य

विजयनगर के राजा ने पंढरपुर से विट्ठल की मूर्ति विजयनगर में ला रखी थी। पंढरपुर मुसलमानों के कब्जे में था। उस अशान्ति के समय में वहां मूर्ति सुरक्षित नहीं रहेगी, इस विचार से सद्भावना से ही उन्होंने यह काम किया था। पर मूर्ति की सुरक्षा के लिए सेना रखी जाय या भक्तों द्वारा प्राणों का बलिदान किया जाय, ऐसी कुछ घटना नहीं घटी। पचास-साठ बरसों के बाद एकनाथ के दादा संत भानुदास ने विजयनगर से वह मूर्ति लाकर फिर से उसकी स्थापना पंढरपुर में कर दी। यह उनका बहुत बड़ा कार्य है। यह मामूली काम नहीं। एकनाथ के मन पर इस काम की गहरी छाप है। भानुदास महान् भगवद्-भक्त थे। अपने जत्थे के साथ वह विजयनगर गये। उनकी भक्ति देखकर राजा संतुष्ट हुआ। वह मूर्ति भानुदास के हवाले करनी ही पड़ी। भानुदास ने निश्चय किया था कि बिना मूर्ति लिये वह लौटेंगे ही नहीं। इस काम के लिए वह कुछ दिन विजयनगर में ठहर गये। इस किस्से का जिक्र एकनाथ ने अपने अभंगों में बार-बार किया है।

... ...

पंढरपुर और वल्लभाचार्य

वल्लभाचार्य तेलंगाना के निवासी थे। वह बड़े विद्वान् थे। देश भर में वह घूमते रहते। वह पंढरपुर पहुंचे। पहले अकेला विट्ठल ही वहां था। बाद में विट्ठल के पड़ोस में रुक्मिणी की मूर्ति स्थापित की गई हैं। उस मंदिर में रहते हुए उन्हें विट्ठल से दृष्टांत प्राप्त हुआ कि 'यात्रा बस हो गई, अब गृहस्थाश्रम का आयोजन करो। मैं तुम्हारे कुल में जन्म लूंगा।' उसके अनुसार उन्होंने उत्तरप्रदेश में जाकर विवाह किया और मथुरा में जा बसे। उनके जो पुत्र हुआ उसका नाम विट्ठलनाथ रक्खा। उन्होंने वल्लभ-संप्रदाय को खूब बढ़ाया। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ-संप्रदाय राजस्थान और गुजरात में फैल गया है। वल्लभभाई और विट्ठलभाई

नाम उन्हींकी बदौलत हैं। गुजरात में दयाराम अत्यंत मधुर काव्य का रचयिता कवि हो गया है। पर उसके काव्य में तत्वविचार है। इस कारण उसका प्रचार ज्यादा नहीं। सूरदास का काव्य लोकप्रिय है। सब ओर उसका प्रभाव है। द्वारका के बारे में महाराष्ट्र में भी बड़ी भक्ति है। ज्ञानदेव ने कहा है—**"द्वारकेचे वाटे पडलें सुनाटें पाऊल नाहीं"** अर्थात् द्वारका के मार्ग पर जो कदम चला उसकी राह कभी सूनी नहीं पड़ी, वह बहती ही रही। महाराष्ट्र और गुजरात का सम्बन्ध बहुत पुराना है। विदर्भ के लोगों से मैंने कहा, "हमारी रुक्मिणी वर्धा-तीर की और कृष्ण द्वारका के निवासी। दोनों बम्बई राज्य में इकट्ठा हो रहे हैं। पुराना सम्बन्ध नया और दृढ़तर हो रहा है।"

हिरेहड़गली की राह पर,
ता० ७-१२-५७

: २३ :

सेनापति बापट

आज चर्चा के सिलसिले में सेनापति बापट का नाम आया। तब विनोबा ने उनके सम्बन्ध में कई मजेदार किस्से सुनाये।

१. एक बार सेनापति बापट मुझसे मिलने आये थे। वह बोले—शंकराचार्य ज्ञान पर इतना बल क्यों देते हैं, मेरे दिमाग में घुस नहीं सकता।

मैं बोला—आखिर महत्त्व दिमाग का ठहरा न ? यही तो शंकराचार्य कहते हैं।

२. सेनापति बापट बोले—लोग ईश्वर का अस्तित्व अनेक प्रकार से सिद्ध किया करते हैं। मुझे उसकी प्रतीति पर्याप्त प्राप्त हुई है। मैंने कितनी ही बार मरने की कोशिश की, पर ईश्वर के सामने मेरी एक न चली। अब मैंने उस धुन का त्याग कर दिया। बोला, जब उठा ले जाना है, ले चलो।

३. आपकी सफाई का काम कैसा चल रहा है ? मैंने पूछा।

सेनापति—साथी मिल जाने के समय से ठीक चल रहा है।

मैं—कौन है यह साथी ?

—ठेला गाड़ी।

४. गोवा के लिए सत्याग्रह करने का आंदोलन चल रहा था। एक प्रवचन में मैंने कहा था कि जबतक भारत सरकार सेना रखे हुए है, तबतक उसे सत्याग्रह करने का कोई अधिकार नहीं। सेनापति बोले कि विनोबा का कहना ठीक है; उनकी राय ठीक मेरी जैसी ही है कि भारत सरकार को चाहिए कि गोवा पर सेनासहित धावा बोल देना चाहिए।

५. एक बार सेनापति बापट ने मुळशी तहसील में सत्याग्रह-संग्राम छेड़ा। पर उसमें दीर्घदृष्टि का अभाव रहा। देश को बिजली की जरूरत थी। वास्तव में सरकार का फर्ज था कि उन गांवों को दूसरी जगह बसा देती। लोगों को जमीन देना आवश्यक था। नेताओं का भी कर्तव्य था कि वे लोगों को ठीक-ठीक समझा देते कि यह सब देश के कल्याण के लिए कैसे आवश्यक है, और सरकार से सहयोग करना उनके लिए कैसे जरूरी है। किन्तु अल्पदृष्टि के कारण यह नहीं हो सका।

हिरेहड़गली के मार्ग पर,
ता० ७-१२-५७

: २४ :

अवतार-कल्पना

मैं—अवतार की कल्पना क्या है ?

विनोबा—सनातनी मानते हैं कि ईश्वर ही अवतार लिया करता है। योगी अरविंद भी मानते हैं कि वह ईश्वर के पास जाकर उसके संदेश के साथ दुनिया में वापस लौटते हैं, जगतोद्धार करते हैं, अवतार लेते हैं। आर्य-समाजी मानते हैं कि ईश्वर अवतार नहीं धारण करता।

ईश्वर याने सत्ता सामान्य। उसमें सत्ताविशेष विलीन हो जाता है। विलीन होने के बाद लौटे कैसे ? गंगाजी में मिली हुई बूंद फिर ज्यों-की-

त्यों कैसे लौटेगी ? बहुत हुआ तो पूर्व-विशेष और कई नये विशेष लेकर अगर कोई आविर्भूत हो और पूर्व के सत्ता-विशेष का अभिमान धारण करे तो उसे उस सत्ता-विशेष का अवतार मानना संभव है। उदाहरणार्थ, ज्ञानदेव का एकनाथ और नामदेव का तुकाराम। पर यह कल्पना पुनरावर्तन के समान हो गई। इसमें मुक्ति का अभाव मानना पड़ेगा। इसकी अपेक्षा यह कहना ठीक होगा कि ईश्वर ही अवतार लेता है, कोई भी मुक्त पुरुष दुबारा अववतार नहीं लेता। पर अरविंद का विचार भिन्न है। उनकी राय में जीव मुक्त होकर फिर जगतोद्धार के लिए जगत् में आविर्भूत होता है और ऐसे अनगिनत मुक्तों के अवतार हो सकते हैं। लड़का पढ़-लिखकर तैयार होता है तब वह वैसे ही बैठा नहीं रहता, खुद पढ़ाने लग जाता है। ठीक इसी तरह जीव साधना द्वारा मुक्ति पाता है और दुनिया का मार्ग-प्रदर्शन करने फिर अवतीर्ण होता है। उसके इसी जन्म-कर्म को दिव्य जन्म-कर्म कहते हैं। इससे किसी भी प्रकार के बन्धन में वह नहीं फंस जाता। मुक्ति से पहले का जन्म और कर्म प्राकृत है और संसार का कारण होता है। लेकिन यह दिव्य जन्म-कर्म उस प्रकार संसार का कारण नहीं होता। यह कल्पना रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैततत्त्व के अनुसार दीखती है। अरविंद अपने ग्रंथों में हमेशा शंकराचार्य का उल्लेख करते हैं, पर कहीं-कहीं रामानुजाचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है।

आर्यसमाजी मानते हैं कि ईश्वर अवतार ग्रहण नहीं करता। मैंने कहा—जीव के मुक्त होने के समय अगर अपना कोई कार्य-संकल्प ईश्वर उसके साथ जोड़ दे तो क्या यह संभव है या नहीं ? तब उन्होंने उसे मान लिया। वही अवतार क्यों न कहा जाय ? हर्ज क्या है ?

मैं—उसको हम अवतार नहीं कह सकते, क्योंकि मेरी धारणा है कि अवतार में अपने अवतार होने का भान अपेक्षित है, जैसे ईसा और मुहम्मद को था।

विनोबा—तो फिर उसके साथ ईश्वर का ज्ञानसंकल्प भी जोड़ दिया जाय।

मैं—मुझे ये सब ईश्वर-जीव-जगत् विषयक उत्प्रेक्षाओं-सी लगती हैं। वेदान्त के अनुसार यह सब अज्ञान है, मिथ्या कल्पना-मात्र है।

विनोबा—अंधं तमः प्रविशंति ये अविद्यां उपासते ।
तलो भूय एव ते तमो ये उ विद्यायां रताः ।।

उपनिषदों में कहा ही है। जो अवतारों में विश्वास करते हैं, वे अंधेरे में घुस जाते हैं और जो उसे मिथ्या मानते हैं वे और भी गहरे में प्रविष्ट होते हैं। ऐसा कहना होगा। वास्तव में जो है, उसका अस्तित्व मानना चाहिए।

तुलसीदास की कल्पना

तुलीदास ने विनयपत्रिका में कहा है—**'रीझे भक्ति देत, खीझे मुक्ति'**, भगवान् प्रसन्न होने पर भक्ति देता है, मतलब कि भज्य-भजक-भाव रखता है, द्वैत रखता है। क्रोधित होने पर मुक्ति देता है। उसके अनुसार 'मानस' में वर्णित है कि राम के हाथों मारे जाने पर राक्षस मुक्त हो गये। लेकिन जो वानर राक्षसों द्वारा मारे गये थे उनपर इंद्र द्वारा अमृतवृष्टि कराकर उन्हें फिर से जिलाया गया। वानरों के साथ राक्षस क्यों नहीं पुनः जीवित हुए? कारण वे मुक्त हो गये थे। मुक्त होने के कारण उनका पुनरुत्थान नहीं।

तुकाराम ने कहा है—जिसे जो भाता है नारायण उसे वह देता है—**'आवडीचें दान देतो नारायण'**। जो भक्ति की मिठास चखना चाहते हैं, उन्हें भक्ति दी जाती है। जो कूटस्थ नित्यब्रह्म की शांति चाहते हैं, पूर्ण निवृत्ति चाहते हैं, जैसा कि तुम कहते हो, उन्हें वह मुक्ति देता है।

अरविंद का 'सावित्री' महाकाव्य

अरविंदबाबू ने 'सावित्री' नाम का महाकाव्य अंग्रेजी में लिखा है। उसपर उन्होंने जीवन भर परिश्रम किये। आखिर मृत्यु से पहले पूर्ण करने की इच्छा से उन्होंने उसे जल्दी समाप्त किया। इस कारण कई लोगों का अभिप्राय है कि उसका आखिरी हिस्सा ठीक नहीं बन पड़ा है। उलटे कइयों की मान्यता है कि जल्दी में समाप्त करने के कारण वह जोरदार बन पड़ा है। सावित्री जिस प्रकार यम के घर जाकर वापस आई, वैसे ही योगी सदेह अमरत्व प्राप्त कर सकता है, या मुक्त होकर जन्म ले सकता है। इस प्रकार

की पूर्ण योग की उनकी धारणा है, हालांकि तीन साल वह किडनी-मूत्रपिंड के विकार से बीमार थे और उससे झगड़ते हुए परलोक सिधारे।

अंग्रेजी पर भारतीयों की छाप

उनके इस काव्य की तथा 'लाइफ डिवाइन' ग्रंथ की छाप अंग्रेजी पर रहेगी। भारत के जिन लेखकों ने अंग्रेजी भाषा में मूल्यवान रचना की है, और उस भाषा पर अमिट छाप छोड़ी है, वे हैं अरविंद, रवींद्र, गांधी और जवाहरलाल। पहले दोनों का साहित्यिक मूल्य है। आखिरी दोनों का वैयक्तिक मूल्य है। दक्षिण में अंग्रेजी का प्रसार बहुत है, पर अंग्रेजी पर अपनी छाप छोड़नेवाला स्थायी मूल्य का साहित्य किसीने लिखा नहीं। राधाकृष्णन् का नाम लिया जायगा। पर वह कोई तत्वज्ञ या स्वतन्त्र विचारक नहीं हैं। मराठी में जैसे बापटशास्त्री या सदाशिव शास्त्री भिड़े हैं, वैसे वे हैं। इतना तो कहा जा सकता है कि वह मुहावरेदार अंग्रेजी में लिखते हैं। सरोजिनी नायडू ने अंग्रेजी में थोड़ा-सा काव्य लिखा है, पर वह नगण्य-सा है।

मैं—जे. कृष्णमूर्ति का नाम लेना पड़ेगा। उनका लेखन साहित्यिक मूल्य भले ही न रखता हो, पर ऐसा लगता है कि उसके वैचारिक प्रभाव को स्थायी कहना पड़ेगा। क्या आप यह नहीं मानते कि अंग्रेजी भाषा तथा जागतिक विचारधारा पर उनकी छाप है?

होल्ललू के मार्ग पर,
ता० ८-१२-५७

: २५ :

प्रश्नोत्तरी

ईश्वर की स्तुतिप्रियता

१. क्या ईश्वर स्तुतिप्रिय है, क्या इसे सद्गुण कहा जाय? अपने खिलौने से अपनी स्तुति की जाय, इसमें क्या रखा है?

—ईश्वर खुशामदखोर नहीं। पर जिसमें भक्त का हित है उसे करने

की प्रेरणा वह देता है। मां बच्चे को बाबा, मां शब्द सिखाती है। उन्हें नहींसीख लेगा तो सिर्फ रोता ही रहेगा।

ईश्वर गुरु है

ईश्वर परम समर्थ है, तो भी वह कई लोगों को भक्ति करने की प्रेरणा देता है, कइयों को नहीं देता, ऐसा क्यों ?

वह सिर्फ जगदीश्वर नहीं, जगद्गुरु भी है। जीवों के विकास के लिए वह उन्हें स्वतन्त्रता देता है। ठोक-पीटकर उन्हें नहीं गढ़ता। उन्हें सयाना बनाता है, पर अपने निजी अनुभव से। फिर हम देखते हैं कि सब बच्चे समान रूपसे बोलना नहीं सीखते। कई तो एक बरस के अन्दर ही बोलने लगते हैं, कई दो बरस के बाद, कई तो चार-चार बरस बोलते ही नहीं। इस प्रकार कोई भक्ति जल्द ग्रहण करता है, कोई देर से।

ईश्वर-दर्शन का अभ्यास

३. ईश्वर कहां है ? उसे कैसे पहचाना जाय ?

पहले ईश्वर कहां नहीं है यह देख लेना। ईश्वर अमंगलता में नहीं; वह निर्मल है, मंगल है। वह निर्दयता में नहीं है; वह दयालु है। इसलिए जो मंगलमय है, दयामय है उसका संग्रह करना। तदितर छोड़ देना। जैसे आदमी कणशः सोना संगृहीत करता है, वैसे जहां-जहां ईश्वरीय गुणों का आविष्कार प्रतीत होगा, वहां-वहां से उनका संग्रह कर लेना। बच्चा अलंकार झट उठा लेगा, सोने का पत्थर फेंक देगा। पर सुनार दोनों का मूल्य समान जानता है। इस प्रकार ईश्वर का परिचय पाने से दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है और तब गन्दगी में भी ईश्वर की झांकी मिल जाती है। वह गंदगी नहीं, खाद है; मामूली खाद नहीं, सोनखाद है। यह ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सर्वत्र ईश्वर-दर्शन होता है। वह क्या थोड़े ही लंदन म्यूजियम में है ? वह सर्वत्र विद्यमान है। उसे देखना सीखने की चीज है। उसका समग्र दर्शन सम्भव नहीं। वह विश्वरूप हम पचा नहीं पायेंगे। कुन्ती को सूर्य ने दर्शन दिया, पर वह उसे बरदाश्त नहीं कर सकी। अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराया। वह डर गया। कहने लगा, मुझे चतुर्भुज रूप दिखाओ।

इस प्रकार जहां-जहां ईश्वर का आविर्भाव दिखाई देता है वहां-वहां से उसे इकट्ठा करना चाहिए और इस तरह सब ईश्वरमय देखना सीख लिया जाय।

ईश्वर स्वयंभू क्यों ?

४. ईश्वर स्वयंभू कैसे ? उसे स्वयंभू क्यों कहा जाय ?

सत्य का मूल उद्गम सत्य होगा या असत्य। तीसरा कुछ हो नहीं सकता। अब यह नहीं कहा जा सकता कि सत्य का उद्गम असत्य है। असत्य से सत्य की उत्पत्ति नहीं होती। तो सत्य का मूल सत्य ही होगा। एक सत्य का मूल दूसरा सत्य, उसका तीसरा सत्य, इस प्रकार मानते चले जायं तो अन्त कहां होगा ? एक हरिदास था। कीर्तन के सिलसिले में उसने कहा—सत्यभामा का पिता सत्राजित् था। तब एक श्रोता उठ खड़ा हुआ और बोला—आपने सत्यभामा के पिता का नाम बताया। पर उसके बाप का नाम क्या था ? उसपर वह हरिदास बोला—उसका नाम अठराजित्, उसका उन्नीसजित् आदि-आदि। उसी प्रकार यह हनुमान की पूंछ बढ़ती ही जायगी। लेकिन विशेष का उद्भव सामान्य से होता है, न कि सामान्य का विशेष से। 'गोत्व' सामान्य है। पर काली गाय, सफेद गाय, उसका विशेष है। विशेष अल्प और सीमित रहता है। गोत्व व्यापक है, बड़ा है। वह जाति है। इसी प्रकार से सत्ता-सामान्य से सद्विशेष उद्भूत होता है। पर सत्ता-सामान्य किसीसे उद्भूत नहीं होता। अगर माना जाय कि वह उद्भूत होता है तो वह परंपरा अनंत बन जायगी। उसमें कल्पना-गौरव के दोष की गुंजाइश होगी। इसलिए परमेश्वर, जो सत्तादि सामान्य है, स्वयंभू कहलाता है। स्वयंभू याने स्वतः वर्तमान, स्वतःसिद्ध।

ईश्वर का वैषम्य तथा निर्घृणता

५. ईश्वर किसीको भक्ति देता है, किसीको नहीं देता; और जिसे भक्ति देकर अपनाता है उसे भी दुःख-कष्ट पहुंचाता है—सो कैसे ?

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

ईश्वर समान है। न किसी पर कृपा करता है, न किसीको कष्ट देता है; अग्नि की भांति, जो उसके पास जाता है उसे उष्णता देता है। जो दूर रहता है उसे नहीं देता। इससे जैसे अग्नि में दयालुता या निर्दयता नहीं होती, वैसे ही ईश्वर में भी। तुकाराम जैसे भक्तवर को भी जो कष्ट सहने पड़ते हैं, वे विकास के लिए ही होते हैं। दखल देकर किसी को ईश्वर दुःख-मुक्त नहीं करता। उसे स्वतन्त्रता प्रदान करता है कि वह स्वयं पुरुषार्थ हासिल करे।

देवकृत चमत्कार

६. कुंवरबाईकृत नरसी मेहता का 'मामेरू': नरसी मेहता को ईश्वर ने सर्व प्रकार से द्रव्य-साहाय्य देकर उसकी लड़की के दोहदपूर्ण किये। क्या यह चमत्कार नहीं है? देव इस प्रकार सहायता करता है?

यह भावना का विषय है। भक्त मानता है कि सबकुछ देव ही करता है। जो आस्तिक नहीं है वह ईश्वरीय कृपा की घटनाओं को आकस्मिक घटनाएं मानता है। सब घटनाओं का कार्य-कारण-भाव हम नहीं समझ सकते, इसलिए हम उन्हें आकस्मिक कहते हैं। वास्तव में वे सब यथा-स्थित होती रहती हैं। ईश्वरनिष्ठ की यह धारणा रहती है कि ईश्वर ही सबके मूल में होता है, सबकी प्रेरणा वही है। अतः वह कहता है कि वे घटनाएं ईश्वरकृत हैं।

मेरी ही बात देखिये—मैं वेदों का अध्ययन कर रहा हूं, वेदों पर कुछ लिखना चाहता हूं। यह सुनकर एक मित्र ने मुझे एक जर्मन भाषा का कोश तथा व्याकरण भेज दिया। उनकी इच्छा यह थी कि जर्मन भाषा में वेदों पर उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे हुए हैं, उन्हें मैं पढ़ लूं। 'इस बुढ़ापे में यह सब करने की तकात आप में है या नहीं, फुर्सत है या नहीं इसका विचार करते हुए मैं इन्हें भेज रहा हूं। इनसे आप चाहे जैसा काम लें'—उन्होंने लिखा था। उसके बाद दो ही दिन बीते कि एक जर्मन लड़की मेरे पास आई और अठारह दिन रहकर चली गई। उसके साथ मैं हर रोज एक घंटा बिताता था। अब कोश-व्याकरण की सहायता से मैं पढ़ सकता हूं। जब वह गई तब मैं उससे बोला, "फिर जब आओगी तब हिंदी ठीक पढ़कर आओ।" उसने

कबूल किया, और कहा—"आप भी जर्मन भाषा का अध्ययन बढ़ाइये !" इस घटना को चाहे तो आकस्मिक कहा जा सकता है। पर गुभ जैसे के मुह से 'ईश्वरीय कृपा' के सिवा और क्या निकलेगा ?

ध्यान और क्रिया

७. आप कहते हैं कि कातते हुए ध्यान किया जा सकता है। वह कैसे किया जाय ? अरविंद स्वतंत्र ध्यान बताते हैं, गांधीजी स्वतंत्र कताई बताते हैं। आप कताई और ध्यान एकत्र बताते हैं। वह कैसे किया जाय ?

ध्यान के साथ सौम्य, परिश्रम-रहित क्रिया की जा सकती है। हम अभिषेक करते हैं। वह अखंड क्रिया ध्यान के लिए पोषक बनती है। कताई करते वक्त जो धागा निकलता रहता है वह भी ध्यान की मदद करता है। हां, वह टूटे नहीं। कताई के समय ध्यान के साथ ही दृष्टि घूमती रहती है। इस कारण उसपर तनाव नहीं पड़ता। एकटक देखने से आंखें थक जाती हैं। पर इस क्रिया में नहीं थकतीं। कातते वक्त यह शरीरश्रम है, यह गरीबों से मिलाप है, आदि चिंतन किया जा सकता है। वैसा चिंतन या और किसी प्रकार का चिंतन न किया जाय तो वह ध्यान हो जाता है।

अध्ययन कब, कैसे, कौन-सा ?

८. अध्ययन कब किया जाय, कैसे किया जाय, कौन-सा किया जाय ?

रात को जो अध्ययन करते हैं उनके लिए तिगुनी प्रतिकूलता हुआ करती है, दिनभर की थकावट, पेट में अन्न बोझ, और आंखों को थकानेवाला जगमगाता दिया। इसलिए रात की पढ़ाई अनुचित है। अध्ययन के लिए तीन समय अच्छे होते हैं—एक, नींद खुलने पर सबेरे, वामकुक्षी के बाद दोपहर, और बीच में स्नान के उपरान्त। इन तीनों समय में शांति और उत्साह रहता है। पं. नेहरू को काम के मारे समय नहीं मिलता। वह रात को १२-१ बजे सो जाते हैं। दोपहर को १॥ बजे पौनार के बुनकरों की भांति भोजन करते हैं और २॥ बजे फिर काम में लग जाते हैं। इस प्रकार उन्हें फुर्सत नहीं मिलती। तो भी सबेरे करीब एक घंटा यौगिक क्रियाओं में बिताते हैं। इससे उनका अच्छा लाभ ही हुआ है। तीन इंच तक पेट घट

गया है।

अध्ययन लंबा-चौड़ा न हो, पर गहरा रहे। एकाग्र होकर किया हुआ घंटे-आध घंटे का अध्ययन लंबे अर्से तक किये अनेकाग्र अध्ययन की अपेक्षा बहुत अधिक लाभकारी होता है। ४-६ घंटे गाढ़ी नींद और ८-१० घंटे करवटें बदलते रहना इनमें जो फर्क है, वही यहां भी है।

हम जो कार्य करते हैं, उसका अध्ययन किया जाय। उदाहरण के लिए तुम लोग भूदान-कार्य करते हो, तद्विषयक संपूर्ण साहित्य का अध्ययन, सब प्रश्नों का चिंतन ही तुम लोगों का कर्तव्य है। साथ ही चित्त-शुद्धि के लिए धार्मिक ग्रंथों का भी अध्ययन करना चाहिए। गीताई है, गीता-प्रवचन है, और भी अन्यान्य ग्रंथ हैं। अध्ययन से मन पावन होता है और काम का चिंतन-मनन करने से व्यवहार सुकर हो जाता है।

: २६ :

बुद्ध का मध्यमार्ग

विनोबा—क्या भगवान् बुद्ध ने कहीं कहा है कि मैंने जो तपस्या की है, उसमें मेरी कुछ गलती तो नहीं हो गई?

मैं—मेरी पढ़ाई में ऐसा नहीं पाया गया है, तथापि अपनी तपस्या के अंत में जब उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तब उन्होंने विचार किया कि शायद मैं गलत मार्ग पर चल रहा हूं। समाधिसुख इस मार्ग से हासिल नहीं होगा। बचपन में जम्बू वृक्ष के नीचे मुझे जो समाधिसुख प्राप्त हुआ था, वह घोर तपस्या के कारण नहीं था। और इस विचार के कारण उन्होंने फिर थोड़ा-थोड़ा अनाज खाना शुरू किया। साथ उनके पांच ब्राह्मण इस विचार से रहे थे कि यह ज्ञानी बन जायगा और इससे हमें भी ज्ञान प्राप्त हो जायगा। उन्होंने समझा कि यह अब पेट के पीछे पड़ गया और उन्हें छोड़-कर मृगदाव, याने आज के सारनाथ, जाकर रहे। इस प्रसंग से लगता है तपस्या का मार्ग भगवान् बुद्ध ने छोड़ दिया।

विनोबा—पर उनसे कहा—'खन्ती परमं तपो तितिक्खा, पन्तं च

सयनासनं', अर्थात् निवास गांव के बाहर रहे, निद्रा भी बाहर ही। इससे क्या अभिप्रेत है ? और क्या 'किसं धमनि संथतं' भी तपोरहितता का लक्षण है ? गांव में रहकर मोक्ष नहीं, बिना भिक्षु बने मोक्ष नहीं। इसका मतलब यही कि बुद्ध का मार्ग माध्यम मार्ग नहीं।

मैं—बुद्ध का मार्ग संसार-धर्म नहीं। उसका मध्यममार्ग गृहस्थ-धर्म भी नहीं। वह है भिक्षुओं का, श्रमणों-ब्राह्मणों का मार्ग। तो भी उन श्रमणों ब्राह्मणों में एकान्तवादी, याने इस या उस छोर तक जानेवाले, लोग थे। पर बुद्ध वैसा नहीं था। वह उन दो छोरों के बीच था। इसी मध्य को ही उसने सम्यक् कहा है। वह सिर्फ बुद्ध नहीं था, सम्यक् संबुद्ध था।

हावनूर के मार्ग पर,
ता० ६-१२-५७

: २७ :

बुद्ध और महावीर

भिन्न दर्शन, भिन्न आचार

मैं—कल आपने कहा था, 'क्या बुद्ध ने अपनी तपस्या का निषेध किया है ?' इस विषय में निषेध तो कहीं मैंने पढ़ा नहीं तो भी उन्होंने उस मार्ग का त्याग जरूर किया था। उसके बाद भी उन्होंने तपस्या-मार्ग को अनुकरणीय नहीं बतलाया। इसके अलावा उन्होंने अपने शिष्यों को भी वैसा तप करने का आदेश नहीं दिया। पर महावीर की बात अलग थी। ज्ञान-प्राप्ति के पहले भी वह तप करते थे और बाद में भी तप करते रहे। उनका उपदेश भी कठोर तपस्या का है। महावीर ने इतने उपवास किये हैं कि उनकी संख्या छः-साढ़े छः वर्षों की होगी। 'संवर' और 'निर्जरा' उनके आदर्श शब्द हैं। इस अन्तर की जड़ में, मुझे लगता है, उनके दर्शनों की भिन्नता ही है।

बुद्ध मानवतावादी, महावीर अहिंसावादी

विनोबा---ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व की तपस्या समझी जा सकती है। पर ज्ञान-प्राप्ति के बाद भी अगर महावीर तपस्या करते रहे हों तो उसका कारण एक तो उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ हो, या वह तपस्या को ही मोक्ष मानते रहे हों। सब मानते हैं कि वह ज्ञानी थे। इसका अर्थ यही कि वह तपस्या को ही मोक्ष मानते थे। यह तप कारुण्य-मूलक है। भगवान् बुद्ध भी करुणावतार थे, पर दोनों की धारणाओं में अन्तर था। भगवान् बुद्ध मुख्यतः मानवतावादी हैं, महावीर भूतमात्र के लिए आत्यंतिक करुणा की प्रेरणा लिये हुए हैं। यह करुणा यहांतक जाती है कि मनुष्य का जीवन भी हिंसा ही है। इसलिए उनकी धारणा है कि खाना भी पाप-रूप है। जितना कम खाया जाय उतनी हिंसा भी कम होगी, इस विचार से यानी प्राणिमात्र के बारे में सूक्ष्मातिसूक्ष्म करुणा से वह यथासंभव निराहार ही रहते हैं।

सगुण या निर्गुण करुणा

बुद्ध ने यज्ञीय हिंसा का निषेध किया और कहना होगा कि उन्होंने उसमें सफलता पाई। आज भारत से यज्ञीय हिंसा उठ गई है। महावीर के समय में भी वह विद्यमान थी, पर ऐसे किसी स्थूल विषय में उन्होंने दखल नहीं दिया। वह केवल शुद्ध अहिंसा का उपदेश देते तथा तदर्थ निरन्तर तपश्चर्या करते रहे और इसीमें सन्तुष्ट रहे। महावीर की यह करुणा निर्गुण थी। मेरी राय में महावीर की भूमिका उच्चतर है। मेरे मन का झुकाव उस ओर है, पर मैंने बुद्ध के मार्ग का अवलंब किया है। कुछ कार्य हाथ में लेकर करुणा का प्रचार करना ही वह मार्ग है। बुद्ध की दया व्याकुल दया है।

बुद्ध का करुणा-साक्षात्कार

जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि मानवी दुःखों के शल्य ने उनके हृदय को बेध दिया था और उस शल्य को उखाड़ फेंकने पर वह उतारू हो गये थे। तपस्या करते हुए बुद्ध को सुजाता हर रोज देखा करती थी। उनकी एक-

एक पसली दिखाई देने लगी, आंखें अन्दर धंस गई, शरीर पर शिराओं का जाल उभर आया। यह सब वह हर रोज देखा करती थी। उसकी आंखें लगी हुई थीं कि वह कब आंखें खोलते हैं। चालीस दिन के अनशन के बाद ज्ञान प्राप्त करके जब उन्होंने आंखें खोलीं तब सामने ही पायस की कटोरी लेकर खड़ी सुजाता मूर्तिमती करुणा के रूप में दीख पड़ी। वह बुद्ध की बोधि, वही संबोधि। तपस्या बुद्ध ने की, ज्ञान का साक्षात्कार हुआ सुजाता को। उसे देख बुद्ध की आंखें खुलीं, करुणा का साक्षात्कार हुआ। दुनिया के दुःख पर वही अचूक दया है। उसे लेकर उन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया।

बौद्ध और जैन धर्मों का अन्तर

बुद्ध का धर्म करुणा-मूलक, पर वैराग्य-प्रधान है। उनका क्षेत्र मानवता है। जैनों का धर्म भी करुणा-मूलक है सही, पर उसका क्षेत्र मानवता नहीं, समूचा जीव-जगत् है। उसमें न विह्वलता है, न खलबली। उसमें है तटस्थता।

सत्य प्रधान है या अहिंसा ?

एक बार एक जैन सज्जन से चर्चा छिड़ गई। उनसे मैंने कहा, "अहिंसा ठीक ही है, पर सत्य का भी कुछ विचार हो ? चींटियों को चीनी दी जाती है, पर व्यापार-व्यवहार में धोखे-बाजी, झूठ, मक्कारी चलती है। यह क्या ?" उन्होंने कहा, "अहिंसा ही धन है। सत्य को छोड़कर भी अहिंसा का पालन करना चाहिए। गांधीजी की अहिंसा और हमारी अहिंसा अलग-अलग हैं। गांधीजी सत्य को ही परम धर्म मानते हैं, हम 'अहिंसा परमो धर्म' मानते हैं। उसके लिए कभी झूठ भी बोलना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। देखिये न महाभारत में भी अपवाद बताये गए हैं।" सत्य का सीधा विरोध करनेवाला और अपना जैनशास्त्र छोड़कर महाभारत का आधार उद्धृत करनेवाला जैन था वह।

न हि सत्यात् परो धर्मः

पर हम तो सत्य को ही परम धर्म मानते हैं। कहते हैं—'न हि सत्यात् परो धर्मः।' उसीमें से सब साधना निकलती है और उसीमें परिसमाप्त हो जाती है। वही तारक है। यहां एक चोर का किस्सा याद आता है।

एक बार एक साधु ने एक चोर को नसीहत दी कि तुम चोरी करते हो, ठीक ही है। चलने दो तुम्हारा काम। लेकिन उसके साथ एक बात करो। व्रत लो कि कभी झूठ नहीं बोलूंगा। चोर को बड़ा आनन्द हुआ कि साधु महाराज ने मेरी जीविका को छुआ नहीं। उसने कहा, "महाराज, मैं आपके उपदेश के अनुसार अवश्य चलूंगा।" उस रात को चोरी करने वह बाहर चल पड़ा। राजा भेष बदलकर टहल रहा था। राजा ने पूछा, "कहां जा रहे हो?" अपने निश्चय के अनुसार उसने सच कहा, "चोरी करने।" "कहां?" "राजमहल में।" राजा बोला, "तो मुझे भी साथ ले चलो। मैं पास ही रहता हूं।" "हां" कहकर चोर गया। तिजोरी खोली। सामने ही तीन हीरे नज़र आये। उनमें से दो लेकर वह लौट पड़ा। राजा के पास आया। बोला, "वहां तीन हीरे थे, पर बंटवारे में कठिनाई होगी, इस विचार से मैं दो ही लाया हूं। यह लो एक।" यह कहकर वह चला गया। राजा ने उसका नाम और पता पूछ लिया था। सबेरे प्रधान राजा के पास चोरी की खबर लेकर पहुंचा। कहा, "केवल तीनों हीरे गायब हैं।" प्रधान ने सोचा—दो हीरे गायब हैं, गलती से एक रह गया है। उसे अगर मैं हड़प लूं तो कौन जान सकता है? इस विचार से उसने वह हथिया लिया था और राजा से कह रहा था कि तीनों गायब हैं। राजा ने चोर को बुला भेजा। उसने राजा के सामने प्रधान से कहा, "निकालो तीसरा हीरा!" प्रधान को देना पड़ा। राजा ने प्रधान को जेल भेज दिया और चोर को अपने खजाने का अधिकारी बनाया।

होसरित्ती के मार्ग पर,

१०-१२-५७

: २८ :

कणिका—३

अपना काम

मैं—जिस क्षेत्र में हम काम कर रहे हैं, उसे छोड़कर आना पड़े तो क्या किया जाय ?

विनोबा—मां बालक को छोड़ कब जाती है ? जब कोई प्रतिनिधि उसकी हिफाजत के लिए मौजूद हो तब। वैसे ही जबतक उस कार्य की जिम्मेदारी सम्हालनेवाला नहीं मिलता तबतक छोड़ जाना अनुचित होगा।

पर जनता की सेवा करते रहना ही हमारा काम नहीं। हमारी सेवा की आवश्यकता न रहे, लोग अपने-अपने काम कर लेते हैं, ऐसा होना चाहिए। यही हमारा काम है। एक सेवक के स्थान पर सेवक-ही-सेवक हैं, एक दूसरे की सेवा, गांव की सेवा, समाज की सेवा हो रही है। यह स्थिति अभीष्ट है। उससे हमारा काम रहेगा ही नहीं। '**कापुराची वाती उजलती ज्योति। ठाईं च समाप्ति झाली जैसी।**' अर्थात् 'कपूर की बाती बनाई, जला दी गई। उसने प्रकाश दिया और अपने में विलीन हो गई।'

गांधीजी का उत्तराधिकारी

मैं—गांधीजी ने जवाहरलालजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके बड़ी गलती की है। हमारी धारणा है कि वास्तव में आप ही उनके सच्चे उत्तराधिकारी हैं, क्योंकि हम मानते हैं कि गांधीजी राजनैतिक नहीं, आध्यात्मिक पुरुष थे, और आपकी भी यही सम्मति है। इस बारे में आप क्या सोचते हैं ?'

विनोबा—गांधीजी की दृष्टि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की ओर थी। वह उनका कार्य शेष था। उनकी अपेक्षा थी कि जवाहरलालजी उस कार्य को अपनायेंगे। इस दृष्टि से उन्होंने जवाहरलालजी को अपना वारिस जाहिर किया। यह है मेरी धरणा। वह कार्य जवाहरलालजी अपने ढंग से कर रहे हैं। यह स्पष्ट है कि वह खादी-ग्रामोद्योग की तरफ भिन्न दृष्टि से

देखते हैं। गांधीजी इस बात को जानते थे। आर्थिक विषयों का तरफ देखने की दृष्टि उनकी अपनी अलग है, तथापि चांडिल में हमारी मुलाकात होगई, उस वक्त से मैं मानता हूं कि ग्रामोद्योग विज्ञान-विरोधी नहीं, यह विचार उन्होंने ग्रहण किया है। यह जो कहा गया है कि बापू को नहीं चाहिए था कि वह जवाहरलालजी को अपना वारिस बनाते, यह ठीक नहीं। बापू का वह तरीका था। मैं तो उनका था ही। पर अपने उत्तराधिकारी के नाते जवाहरलालजी पर उन्होंने यकीन रखा है। निःसन्देह वह उस विश्वास के योग्य ठहरेंगे। अगर जवाहरलालजी की दृष्टि गांधीजी का दृष्टि से भिन्न है तो यह भी ध्यान में लीजिये कि मेरी भी दृष्टि उनकी दृष्टि से भिन्न है।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही

प्रश्न—एक बार हमारा एक मित्र विषम ज्वर से बीमार हुआ। पूरे ४२ दिन वह बीमार रहा। उस बीमारी ने उसके दिमाग तथा जबान पर असर डाला। सीखी बातें वह याद नहीं कर पाता था। अंग्रेजी आदि सबकुछ वह भूल गया। बड़ी मुश्किल से वह बोल सकता था। जो कुछ वह बोल सकता था वह केवल मराठी, उसकी मातृभाषा में। इससे जान पड़ता है कि मातृभाषा की छाप कितनी गहरी होती है।

उत्तर—शिक्षा के माध्यम के बारे में मत-भिन्नता है। शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से मातृभाषा ही शुरू से अखीर तक शिक्षा का माध्यम हो, यह मेरी राय है। दादा धर्माधिकारीजी ने मुझे समझाने का प्रयत्न किया कि हिन्दी उच्च शिक्षा में माध्यम रहे। मेरा मत-परिवर्तन वह नहीं कर सके। तब उन्होंने विनोद बुद्धि से कहा, "मातृभाषा का मेरा अध्ययन आपके जैसा गहरा नहीं।" पर कहना चाहिए कि हालांकि दादा मुझे नहीं समझा सके, तो भी मुरारजीभाई ने मुझे अनुकूल बना लिया। वह बोले—"कॉलेज-प्रवेश से पहले विद्यार्थी का मातृभाषा-विषयक अध्ययन पूर्ण होना चाहिए। इस अध्ययन के साथ एक अनिवार्य विषय के तौर पर वे हिन्दी का भी अध्ययन करें। इस हालत में क्या हर्ज है हिन्दी को उच्च शिक्षा में माध्यम बनाने में? विद्यार्थी का मातृभाषा का ज्ञान इस कारण से

अधूरा नहीं रहेगा। आगे भी उसका विशेष अध्ययन किया जा सकता है।" उनकी यह दलील मुझे विचार-योग्य जंचती है। फिर भी शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से मातृभाषा ही माध्यम रहे, यह मेरा मत ज्यों-का-त्यों है।

अलावा इसके हिन्दी को माध्यम के रूप में स्वीकार करने में अनेक बाधाएं हैं। प्रमुख अड़चन यह है कि उसके साहित्य की अपेक्षा तमिल, मराठी, बंगला भाषाओं का साहित्य अधिक समृद्ध है। वे भाषाएं हिन्दी को माध्यम बनाने में आपत्ति उठायेंगी। राजाजी कहते हैं, हिन्दी को आवश्यकता है कि वह स्वयं स्कूल में जाय। उनका कहना है कि उसे समर्थ और सम्पन्न बनने दें।

रद की हुई किताब 'भगवान्'

किशोरलालजी मशरूवाला ने 'ईश्वर' पर 'भगवान्' नामक किताब लिखी थी। उसमें ईश्वर के सत्-चित्-आनन्द रूप को लेकर हरेक पद का तात्विक विवेचन उन्होंने किया था। उसकी पांडुलिपि उन्होंने अभिप्रायार्थ मेरे पास भेजी थी। मैंने उसे पढ़ा और कुछ प्रश्न पूछे। इस कारण उन्होंने उसे प्रकाशित करने का विचार छोड़ दिया। मुझे लगता है कि उन्होंने उस किताब को फाड़ डाला हो। उसके बाद जब वह मुझसे मिले तब बोले, "यदि मैं विनोबा को नहीं समझा पाता तो औरों को क्या समझा सकता हूं? इस विचार से मैंने उसे रद कर दिया।"

होसरित्ती के मार्गपर,

१०-१२-५७

: २९ :

योग और रोग-वियोग

योगी और रुग्ण मरण

मैं—आपसे और बापू से बार-बार सुना है कि योगी रोग से नहीं मरने पाते। लेकिन यह कहांतक ठीक है? शंकराचार्य, रामकृष्ण, अरविंद

आदि अनेक योगी पुरुष रुग्ण होकर चल बसे, यह इतिहास है।

विनोबा—योग दो प्रकार का है—१. द्वंद्व में चित्तसाम्य या सुख-दुःख-समता और २. योगयुक्त जीवन या नियमित आहार-विहारादि। पहला योग उच्च है।

शंकराचार्य

पूर्व-जन्म के योगी शंकराचार्य अवशिष्ट कार्य पूरा करने अवतीर्ण हुए थे। वह कार्य करते हुए उन्होंने कभी खाने-पीने की परवा नहीं की और अपना कार्य झट पूरा करके वह चल दिये। छोटी उम्र में विद्याध्ययन तथा आगे धर्म-कार्य के लिए घूमते रहे। ऐसी अवस्था में खाने-पीने का प्रबन्ध ठीक कैसे हो सकता? फलस्वरूप शरीर रोगी हो गया तो आश्चर्य क्या?

रामकृष्ण

रामकृष्ण भी योगी नहीं थे। योग में भावावेश के लिए स्थान नहीं। वह तो हमेशा भावाविष्ट हुआ करते। उससे आयु का क्षय होता है। डाक्टरों ने कहा था कि अंत में उनको बीमारी का प्रकोप होगा और उनकी मृत्यु होगी। पर रामकृष्ण बेफिक्र रहे। रोग के बावजूद वह आनंदी रहे।

अरविंद

अरविंद के बारे में आपत्ति उठाई जा सकती है। उनका योग दूसरे प्रकार का था। नियमित आहार-विहार जिस प्रकार का आवश्यक है, वैसा उन्हें प्राप्त था। इस योग-मार्ग से मानवदेह अमर हो सकता है, यह उनकी धारणा थी। लेकिन फिर भी यह रुग्ण होकर काल वश हुए, अर्थात् उनकी साधना अपूर्ण रही। पर उनके भक्त ऐसा नहीं मानते।

तिलक

तिलक पहले प्रकार के योगी थे। वह समसुखदुःख थे। बुढ़ापे में तिलकजी को छः साल की लम्बी सजा भुगतनी पड़ी। सब लोगों को इसका बड़ा रंज हुआ। उन दिनों यह सजा अत्यन्त भयानक समझी जाती थी। पर शाम को तिलकजी मोटर में दूर ले जाये गए। मोटर चलानेवाला था एक कट्टर अंग्रेज, जो तिलकजी से दिल से नफरत, गुस्सा करनेवाला था। लेकिन तिलक, सोने का समय आते ही, आठ बजे गहरी नींद सो गये।

उस नफरतभरे अंग्रेज ने इस कारण उनका बड़ा गौरव किया है। इस प्रकार वह योग-युक्त थे, तो भी रोगवश हो कालवश हुए, क्योंकि वह मनःक्षोभ का शिकार हो जाते थे। आहार भी जैसा चाहिए था वैसा नहीं रहा करता।

गांधी

गांधीजी की मृत्यु ऐसी नहीं हुई। तो भी निराश होकर उन्होंने १२५ वर्ष जीने का अपना संकल्प त्याग दिया था। बार-बार वह रक्त के दबाव से पीड़ित रहते, मनःक्षोभ बहुत हुआ करता। मगनलाल गांधी, जमनालालजी और महादेवभाई देसाई को अपना कार्य-भार सौंप देने का उनका विचार था। पर इन तीनों से उन्हें निराश होना पड़ा। पर जवाहरलालजी ने उन्हें धोखा नहीं दिया।

विनोबा

प्रभुदास ने लिखा है कि गांधीजी का १२५ वर्ष जीने का संकल्प मैं पूरा करूं। पर मैं भी भावावेश में आया करता हूं, जिसके कारण मैं अपने को नालायक ही समझता हूं। ऐसा होते हुए भी श्रीहरि की इच्छा से जो होना हो सो होगा। कोई भी संकल्प मैं नहीं करता।

होसरित्ती के मार्ग पर,
१०-१२-५७

: ३० :

वेद और वैदिक ध्यानयोग

आधुनिक उपासना

मैं—प्रार्थना के साथ कताई मुझे एकदम पसंद है। आधुनिक युग के अनुसार वह वैदिक उपासना ही है। यज्ञ में जिस प्रकार मंत्रोच्चार के साथ हवन होता है, वैसे यहां ईश्वर-स्मरण के साथ कताई। मंत्र के साथ तंत्र। उपासना में मानसिक, वाचिक तथा कायिक क्रियाएं एकत्र हो गई हैं।

वेद का कवच

विनोवा—वेद की दृष्टि समग्र है। वह एक परिपूर्ण योजना है। वेद में कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्ति-योग पाया जाता है। ज्ञान तो है ही। पर वेद पर एक कवच है। उसे हटाकर देखे बिना उसका गूढ़ भाव प्रकट नहीं हो पाता। 'छंदांसि यस्य पर्णानि' वेद का रहस्य मंत्र के कवच में निगूढ़ है। गीता का कवच युद्ध है। तिलकजी उसे ऐतिहासिक घटना मानते हैं तो गांधीजी रूपक। उस कवच का भेद किये बिना गीता का रहस्य हाथ नहीं आता।

वैदिक ध्यानयोग

ब्राह्मण-ग्रंथों ने कर्मकांड पर बल दिया। फल यह हुआ कि आगे चलकर आरण्यकों तथा उपनिषदों ने ज्ञानकांड को वेद का सार, वेदान्त, मानकर उसका प्रतिपादन किया। वेद के ध्यान-उपासनायोग का प्रणेता हिरण्यगर्भ है। वैदिक ध्यानयोग लोगों की समझ में नहीं आता। इन्द्र, मित्र, वरुण इत्यादि ध्यान ही हैं। गीता का विभूतियोग और विश्वरूपदर्शन-योग वेद से ही ग्रहण किया है। वेद परिपूर्ण जीवन-दर्शन है। वेद में जितने आध्यात्मिक विविध अनुभव प्रकट हुए हैं, उतने और कहीं भी नहीं मिलते। संत तुकाराम में भी जितने अनुभव पाये जाते हैं, उतने अन्यत्र नहीं मिलते। तो भी वेद के अनुभव, भूमिकाएं, चिंतन अति सूक्ष्म हैं। मां कहा करती— **"जले वराहं, अरण्ये नारसिंहं, श्रीरामं सर्व कर्मसु।"** उसी प्रकार वैदिक ध्यानमंत्र विशेष अर्थ धारण करते हैं। भिन्न-भिन्न देवता विशिष्ट ध्यान-प्रतीक हैं। आज हम प्रेम, दया, करुणा आदि का आवाहन करके उनका ध्यान करते हैं। वेद में वही पाया जाता है। 'मित्र' कहने से परमात्मा सर्वत्र भिन्न रूप से व्याप्त है यह ध्यान-प्रतीक है। **'गौरसि गव्यते, अश्वं अश्वायते भवान्'**—'हे इन्द्र, हे परमात्मन्, तुम्हीं गौ हो, गोरूप से हमें दूध देते हो, तुम्हीं अश्व हो, अश्व बनकर पीठ पर हमें वहन करते हो, और इष्ट स्थान पर पहुंचाते हो।' यह वेद में कहा है। कई लोग इसका अनुवाद करते हैं—तुम गाय मांगनेवाले को गाय देते हो, घोड़ा मांगनेवाले को घोड़ा। इस प्रकार वेद अति सूक्ष्म अर्थ धारण करते हैं। वेद-दृष्टि गूढ़ है।

वेदों की महत्ता

कतिपय लोग वेदों में इतिहास खोजते हैं, कई भूगोल, खगोल आदि देखते हैं। पर वेदों की महत्ता इन बातों में नहीं। दस हजार साल पहले की मारवाड़ी की बही मिल जाय तो इतिहास की दृष्टि से उसका बड़ा मूल्य होगा। पर वेद की महत्ता आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से है। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।'** वेद और गीता में ऐसे वचन हैं। इसी दृष्टि से उनका अध्ययन इष्ट है। अन्यान्य दृष्टियों से अगर कोई वेदों से कुछ निकाल ले तो हर्ज ही क्या? पर वह वेदों का सार नहीं होगा।

वैदिक भाषा की सूक्ष्मता

वैदिक धातुएं और शब्द सूक्ष्म अर्थ का वहन करते हैं। संस्कृत के शब्दों में भी सूक्ष्मता है, पर वैदिक शब्दों में अधिक सूक्ष्मता है। तुमने लिखा था कि अंग्रेजी में भी किसी हद तक इस प्रकार की सूक्ष्मता और व्युत्पत्ति पाई जाती है, 'ससीम एंड लिलीज'. नामक रस्किन की किताब में वह नजर आती है, मिल्टन के काव्य में भी व्युत्पन्न विद्वत्ता के दर्शन हो जाते हैं। लैटिन भाषा में भी सूक्ष्म अर्थ विद्यमान है। पर हर शब्द की व्युत्पत्ति धातु से है, यह संस्कृत की दृष्टि अन्य भाषाओं में उस कदर नहीं पाई जाती। लैटिन और अरबी भाषा में ऐसी आंशिक दृष्टि तथा शक्ति है। उदारणार्थ 'धा' से धान्य। अंग्रेजी में नाम-धातुएं बहुत हैं, पर संस्कृत की यह दृष्टि रही है कि हर शब्द का व्युत्पादन धातु से किया जा सकता है। धातु ही शब्द-मात्र के मूल में है। धातुओं के समान कई संज्ञाएं भी मूलतः सिद्ध मानी जा सकती हैं, पर संस्कृत की वह दृष्टि नहीं।

वेद इतिहास-ग्रंथ नहीं

वेदों में कालातीत विचार ग्रथित है। केवल दिक्कालावच्छिन्न विचार नहीं। हमपर तो यही आक्षेप उठाया जाता है कि हमने इतिहास नहीं लिखा। हमने इतिहास इसलिए नहीं लिखा कि हमने उसे कभी महत्त्वपूर्ण माना नहीं। क्या वेद 'भाऊसाहब की बखर' के समान है? अगर वह वैसा होता तो हम उसे रट-रटकर कंठस्थ कर डालते। कहते हैं कि वेदों में आर्य

और द्रविड़, पणि और देव के बीच के विग्रह का इतिहास है। होगा भी शायद, पर वेद उसके लिए नहीं हैं।

उपनिषदों ने वेदों को बचाया

मीमांसकों ने वेदों को केवल कर्मकांड मान लिया। उसमें से उपनिषदों ने वेदों को उबारा। वेदों को गौणत्व प्रदान किया। गीता ने भी वेदों को वैसा ही गौणत्व दिया है, क्योंकि गीता वेदान्त ग्रंथ है, ब्रह्मविद्या है। अंत में वेदों का संन्यास भी उपदिष्ट है। **'अत्र माता अमाता भवति, पिता अपिता, वेदा अवेदाः'** आदि **'वेदानपि संन्यसति।'** वह जो आत्मज्ञान है, वही वेदों का सार है, वेदान्त है। वेद इसीमें परिसमाप्त होते हैं।

ग्रामदान के शास्त्र के लिए

इस दृष्टि को लेकर ऋग्वेद की दस हजार ऋचाओं में से एक हजार ऋचाओं का चुनाव करना है। दूसरा यह भी विचार है कि एक समूचा मंडल लेकर उसपर कुछ लिखूं। वेदार्थ कैसे निकाला जाता है, और मेरी दृष्टि उस विषय में कैसी है आदि बातें उससे प्रकट हो जायंगी। उपनिषदों पर 'उपनिषदों का अध्ययन', 'ईशावास्यवृत्ति' गीता पर 'गीताई' तथा 'गीताप्रवचन' प्रकाशित हुए हैं। भागवत का संचयन हुआ है। वेदों की सेवा करना चाहता हूं। अवसर की ताक में हूं। धम्मपद तैयार ही है। कुरान में से भी चयन करने की चाह है। उससे सब लोगों को नित्य-पठन के लिए कुरान का सार मिल जायगा और उससे परिचय बढ़ेगा। बाइबिल से चयन नहीं होगा, क्योंकि वह ग्रंथ सुपरिचित है। शंकराचार्य के प्रकरणग्रंथों से 'गुरुबोध' बना है। उनके भाष्य से भी चयनिका बनाने का विचार है। मराठी संतों के चयन तैयार हैं। रामदास से भी चुनाव जल्द किया जायगा। तुकाराम का सार-ग्रंथ बन गया है, पुराना चयन उपलब्ध हुआ है। यह सब चयन भूदान-ग्रामदान विचार को पूर्णता प्रदान करेंगे। भूदान-ग्रामदान का शास्त्र-ग्रंथ बनाना है।

सिद्दापुर के मार्ग पर,
११-१२-५७

: ३१ :

पद-यात्रा की झांकी

चर्चा-रस

आज रास्ता कच्चा ही था। अतः जयदेव ने सुझाया कि पर्याप्त प्रकाश के फैलने तक चर्चा शुरू न की जाय। हालांकि विनोबाजी चर्चा चाहते थे, तो भी मैंने चर्चा नहीं शुरू की। परसों तो बीच में दो बार जयदेव ने बताया कि रास्ता खराब है, चर्चा बाद में की जाय, पर विनोबा ने कोई जवाब नहीं दिया और चर्चा जारी रखी। वह जब तीसरी बार बोला, तब विनोबा बोले—

"चर्चा के चलने पर भी मार्ग तय करने में कोई रुकावट नहीं आती।" यह कहकर वह मेरे साथ बोलते ही रहे। विषय अतीव रसप्रद था। हर रोज सवेरे भी जो यह हमारी चल-चर्चा चलती है वह बड़ी दिलचस्प होती है। यद्यपि हम दो ही बोला करते हैं, तो भी और लोगों को यह अतीव भाती है।

हेसरूर का स्वागत और सभा

आज रास्ते में एक गांव पड़ा, जिसका नाम हेसरूर है। यहां श्री भीमाचार बटवी ने बड़ा सुन्दर आयोजन किया था। समूचा गांव संमार्जित किया गया था, बंदनवार आदि से सजाया गया था। स्त्री-पुरुष और बच्चे स्नानादि से निवृत्त होकर सुन्दर वस्त्र पहने सभा में इकट्ठे हो गये थे। सभास्थान में विनोबा के लिए उच्चासन की आयोजना की गई थी। तीस-चालीस महिलाएं आरती के थाल लिये कतार में खड़ी थीं। थाल में दो-दो फूल-बत्तियां जल रही थीं। मंगल कलश भी थे। कलशों में पानी और नागवल्ली दल थे। अक्षत तथा कुंकुम साथ थे। वह एक दीपावली ही स्वागत वितरण कर रही थी। एक ओर स्त्रियां, दूसरी ओर पुरुष, और उनके साथ होड़ करती हुई आसमान में तारका-मंडली दिखाई दे रही थी। विनोबा के सभा-स्थान पर पधारते ही स्त्री-पुरुषों ने मिलकर 'जय जगत्' का नारा बुलंद करके उनका स्वागत किया। फूलों की तथा सूत की मालाएं अर्पित की गई। वह दृश्य बड़ा मनोहारी था। साधु-संत जब घर आते हैं, तभी दिवाली-दशहरे

के सच्चे त्योहार होते हैं, इस आशय की मराठी कहावत का मानो वह प्रत्यक्ष प्रमाण था। विनोबा ने खड़े-खड़े ही उनको भूदान का संदेश थोड़े में सुनाया। कहा—

"अगर सबको खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता, शिक्षा-दीक्षा मिलनी चाहिए तो ग्रामदान की आवश्यकता है। हवा और पानी पर जिस प्रकार किसीका एकाधिकार नहीं, किसीकी मालकियत नहीं, वैसा ही जमीन के बारे में होना चाहिए। हवा और पानी के समान ही जमीन भी भगवान् की देन है और इसलिए सबको समान रूप से मिलनी चाहिए।"

इसके अनन्तर फिर 'जय जगत्' का घोष हुआ और यात्रा आगे बढ़ी।

पाठशाला में पड़ाव

८॥ से ९ के लगभग हम शिगली पहुंच गये। शिगली एक अच्छा गांव है, जिसकी आबादी पांच हजार है। एक मिडिल स्कूल में हमारा पड़ाव रहा। प्रबन्ध ठीक था। इधर अधिकांश स्थानों में हमारा पड़ाव पाठशाला में ही रहा करता है। चालीस-पचास आदमियों के एक साथ ठहरने के लिए अन्य जगह कहां? पाठशाला अक्सर गांव के बाहर या एक छोर पर रहती है। इससे खुली जगह और अहाता अक्सर हुआ करता है।

मुकाम पर

मुकाम पर पहुंचने के बाद पहले हाथ-मुंह धोकर नाश्ता किया जाता है। नाश्ते के लिए सूजी और कषाय मिलता है। यह कषाय मुझे बड़ा अच्छा लगा। धनिया, गुड़, सोंठ और थोड़ा दूध मिलाकर यह कषाय बनता है। दक्षिण में सर्वत्र इसका प्रचलन है। चाय आदि पेयों के बदले पीने लायक यह चीज़ है। इसके बाद सामान का करीने से लगाना, स्नानादि से निवृत्त होना आदि काम रहता है। स्नान और कपड़ों की धुलाई के लिए अनेक बार नदी, तालाब, कभी-कभी कुएं का सहारा लेना पड़ता है। होसरित्ती में हम वरदा नदी पर नहाने गये थे। इधर अनेक गांवों में तालाब पाये जाते हैं, वैसे पानी की कमी ही है। स्नानादि से निबटकर और कपड़े सुखाकर जो समय बच जाता है, उसे लेखन-पठनादि के काम में लाया जा सकता है।

वर्ग और पाठ

११ बजे विनोबा कार्यकर्ताओं का वर्ग चलाते हैं। हाल में सर्व-सेवा-संघ की ओर से हर प्रांत में वहां के आठ-दस सेवकों की टोली एक हफ्ते के लिए शिक्षार्थ बुलाई जाती है। यह उपक्रम बड़ा अच्छा है। उससे दोनों ओर लाभ होता है। विनोबा कार्यकर्ताओं से परिचय पाते हैं, कार्यकर्ता लोग अपनी शंकाओं का समाधान करा ले सकते हैं। इस वर्ग में विनोबा अत्यंत मौलिक विवेचन किया करते हैं। वर्ग के अनंतर तुलसी रामायण तथा गीताई का पाठ चलता है। रामायण का दोहान्त या छन्दान्त हिस्सा गाया जाता है। सामान्यतया इस हिस्से में दस-बारह चौपाइयां और एक दोहा और कभी-कभी एकाध छंद हुआ करता है। गीताई का पारायणकाल २१ दिन का रहता है। दूसरे, ग्यारहवें और अठारहवें अध्याय के दो-दो हिस्से करके हर हिस्सा एक दिन पढ़ा जाता है। बाकी पंद्रह अध्यायों के लिए पंद्रह दिन, इस प्रकार का क्रम रहा करता है। गोपुरी में २५ दिन का पारायणकाल रखा है। उसके बदले यह २१ दिन का पारायण शुरू करने लायक है। पहले एक समय वह था भी। गोपुरी में प्रातः प्रार्थना में बहुत ही कम लोग आते हैं। अतः यहां की भांति (रामायण) गीताई पाठ को सवेरे की प्रार्थना से हटाकर दोपहर कताई के वक्त रखा जाय, यह विचार मन में उठता है। १२ बजे यह कार्यक्रम खत्म हो जाता है। कभी विनोबा रामायण के बारे में बोलते हैं।

तुलसीरामायण में अन्वेषण

परसों विनोबा ने तुलसीरामायण के बारे में अपनी खोज बताई। जहां-जहां रामायण में सीता और राम का वियोग है, वहां-वहां तुलसीदास ने संक्षिप्तता से काम लिया है और जहां वे एकत्र हैं, वहां विस्तार को अपनाया है। सीताराम तुलसीदास के आराध्य हैं। वह चाहते हैं कि वे दोनों इकट्ठे ही रहें। वाल्मीकि रामायण में यह दृष्टि नहीं। अरण्य-कांड, किष्किंधा-कांड, सुंदर और युद्ध-कांड वाल्मीकि ने विस्तार के साथ कहे हैं, पर तुलसीदास उन्हें थोड़े में कह गये हैं। बालकण्ड भी संक्षेप में ही वर्णित है। बालकाण्ड की प्रस्तावना को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वह तुलसीदास

की अपनी मौलिकता का विषय है, रामायण या रामचरित का अंश नहीं।

विश्राम और सूत्र यज्ञ

१२ से २॥ तक भोजन और विश्राम, २॥ से ३ सूत्र-यज्ञ। सूत्र-यज्ञ के समय कुछ पठन होता है। उसका अंत संक्षिप्त प्रार्थना से होता है। प्रार्थना के श्लोक ये हैं—

योन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्।
असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर् गमय
मृत्योर् मा अमृतं गमय।

इसके बाद ३ से ५ तक लोग अपने-अपने हिस्से के काम निबटा लेते हैं। स्थानिक कार्यकर्ता भूदान-ग्रामदान कार्य के लिए जाते हैं। कभी-कभी इस अवधि में विनोबा के साथ कार्यकर्ता, प्रतिष्ठित लोग, व्यापारी, विद्यार्थी आदि मुलाकात, चर्चा या सभा में हिस्सा लेते हैं। होसरित्ती में बेसिक ट्रेनिंग कालेज, धारवाड़ के ४० छात्र आये थे। उनके सामने विनोबा का बड़ा सुंदर भाषण हुआ। छात्रों के सवाल थे—शिक्षा में अंग्रेजी का स्थान हो या नहीं, आदि। विनोबा ने उनके उत्तर दिये। अन्यत्र व्यापारियों की सभा थी।

शिगली,
१२-१२-५७

: ३२ :

अप्पा से चर्चा—१

विनोबा की कार्याध्याय-संगति

आज हमारी पदयात्रा ६ बजे प्रारंभ हुई। गंतव्य स्थान ६-७ मील के फासले पर ही था। कल पूज्य अप्पासाहब विनोबा से मिलने आये हैं। आज सबेरे ५॥ बजे उनके लिए समय दिया था। यानी पहले से ही उनके साथ विनोबा बात कर रहे थे तो भी तय किये अनुसार विनोबा ६ बजे चल पड़े और 'श्रीमद् रमारमण गोविंदो हरि' कहकर यात्रा जारी की। हमारे साथ हाल में बंगाल की प्रथम टोली है। दो दिन उन्होंने चलना शुरू करते समय गाने का उपक्रम जारी किया है। आज भी वे गीत गाते हुए निकल पड़े। गांव से बाहर आने पर विनोबा ने 'शांति' कहकर उन्हें चुप कराया। फिर अप्पा से चर्चा शुरू की।

जबतक बापू थे

विनोबा बोले—जबतक बापू थे तबतक मैं एक स्थान पर गड़ा हुआ-सा काम करता था। बरसों तक मैंने रेल इस्तेमाल नहीं की। वैसे ही पास-पड़ोस के गांवों को छोड़ कहीं पैदल भी नहीं घूमा। ३० साल तक रचनात्मक कार्य करता रहा।

बापू के बाद

लेकिन बापू के चल बसने पर स्थिति बदल गई। प्रारंभ में ही हिंसा उबल पड़ी। स्वराज्य-प्राप्ति के साथ ही हिंदू-मुसलमानों के बीच भयानक हत्याकांड मच गया। इस अवस्था में सवाल यह उठा कि अहिंसा कैसे बचेगी। परिस्थिति का भान हुआ। चालीस-चालीस लाख लोगों का पूर्व-पश्चिम पाकिस्तान से आवागमन हुआ। करीब एक करोड़ आबादी का स्थलांतर हुआ। हिन्दुस्तान की शासनप्रणाली अधिक मजबूत, अतएव स्थिर होने के कारण इधर अधिक लोग आ गये।

शरणार्थी और हरिजन

पश्चिमी पाकिस्तान से जो हरिजन पंजाब में आकर बस गये उनकी हालत बड़ी दयनीय थी। उनके पास वहां भी जमीन नहीं थी, और यहां तो वह सवाल ही नहीं था। सवर्ण हिन्दू, जिनके पास वहां जमीन थी, बड़े जमींदार थे। इधर से जो मुसलमान उधर गये वे वैसे नहीं थे। उनकी जमीन यहां थोड़ी-सी थी। वह किसे दी जाय? सवर्ण हिन्दुओं का दबाव सरकार पर बहुत था, इसलिए उन्हें जमीन दे देना सरकार ने तय किया था। किन्तु जवाहरलालजी को यह बात पसंद थी कि जमीन हरिजनों को दी जाय। सरकार के सामने यह जटिल समस्या थी। सिवा इसके वल्लभभाई का रुख और था। उन्हें जवाहरलालजी की नीति पसंद नहीं थी। रामेश्वरी नेहरू ने कहा, "अब आप नया प्रबंध कायम करना चाहते हैं तो चूंकि पहले हरिजन भूमिहीन थे, इसलिए वही अन्याय जारी रखने की आवश्यकता नहीं। उन्हें जमीन मिलनी चाहिए।" जवाहरलालजी को यह उचित जंचा। इसके अलावा मैंने कहा, "वहां हरिजनों के मालिक थे, जिनकी नौकरी में वे ज्यों-त्यों करके अपनी गुजर-बसर करते थे। यहां क्या है? इस कारण से भी उन्हें जमीन मिलना उचित है।" आखिर राजेन्द्रबाबू की उपस्थिति में पंजाब सरकार ने हरिजनों को भूमि देने की बात मंजूर की। वह शुक्रवार था। उस दिन के प्रार्थना-प्रवचन में मैंने पंजाब सरकार को बधाई दी। लेकिन उस निर्णय पर अमल नहीं हुआ। कहा गया कि किसी भी हालत में हरिजनों की मांग पूरी नहीं की जा सकती। रामेश्वरी नेहरू को बड़ा दुःख हुआ। पर चारा ही क्या था! सत्याग्रह भी उस हालत में असंभव था। दिल्ली छोड़कर मैं वापस आ गया।

शिवरामपल्ली में

परंधाम में कांचन-मुक्ति के प्रयोग का सूत्रपात किया गया। वर्ष-सवा वर्ष तक वह चलता गया। बाद में मैं शिवरामपल्ली गया। वहां से तेलंगाना में। वहां पोचमपल्ली में जब जमीन मिल गई और हरिजनों की मांग पर मिल गई, उनकी मांग पूरी हो गई। पंजाब की याद आ गई। मन में विचार आया कि यही सिलसिला जारी रखा जाय। लगा कि उसे जारी

न रखना कायरता होगी। वह सिलसिला तेलंगाना में ठीक चला। किसको यह भरोसा था कि वह चलेगा? तेलंगाना के वातावरण के कारण, वहां की विशिष्ट परिस्थिति की बदौलत, वह आशादायी हो गया। तो भी यह धारणा थी कि अन्यत्र वह सफल होगा ही सो बात नहीं। परंधाम लौट आया।

नेहरूजी का निमंत्रण

कांचन-मुक्ति का प्रयोग जारी थी। मेरे रहने से उसे बल मिलेगा, इसलिए में रह जाऊं तो ठीक होगा, यह थी उनकी इच्छा। चार महीने ठहर गया, पर मैंने कह दिया कि ठहर नहीं सकूंगा। प्लॉनिंग कमीशन की आलोचना मैंने की थी, इसलिए नेहरूजी का निमंत्रण चार महीने की अवधि खत्म होने से पहले ही मिला। उन्होंने लिखा था—"चर्चा करनी है, अत: जल्दी आइये, और फुर्सत लेकर आइये।" मैंने उन्हें लिखा कि मैं पैदल ही आ रहा हूं, इसलिए जल्दी न रहेगी।

दिल्ली में

भूदान पाते-पाते दिल्ली गया। खादी और ग्रामोद्योग हमारे वॉर पोटेन्शल्स् हैं, कल युद्ध छिड़ जाने पर देश में जनता बिना उनकी सहायता के टिक नहीं सकेगी, आदि दलीलें पेश कीं। अहिंसा को आधार नहीं दिखाई दे रहा था, वह अब मिल गया। सबके प्रपंच की चिंता करना ही परमार्थ साधन है, यह आपका कहना मुझे मंजूर है। इसमें 'सब' शब्द महत्त्व का है। अपने-पराये का भेद यहां मुमकिन नहीं। अपनों में सिर्फ ब्राह्मण ही नहीं, हरिजन भी शामिल हैं, यह ठीक है। लेकिन इतने से काम नहीं चलेगा। आपका नेशनलिज्म यहां काम नहीं आयेगा। इसलिए मैंने 'जयहिंद' की जगह 'जय-जगत्' मंत्र अपनाया है। पार्लमिंट में फौजी बजट पर चर्चा नहीं होती, मांगें बिना चर्चा के ही तुरंत मंजूर होती हैं। हमारा नेशनलिज्म पाकिस्तान के डर पर खड़ा है। एक बार मैं पंडितजी से बोला—"आपका अर्थ-संकल्प, आपकी योजनाएं आप तय करते हैं या पाकिस्तान?" इसपर पंडितजी बोले—"पाकिस्तान का बजट बनानेवाले ही हमारा बजट बनाते हैं।"

शांति-सेना का विचार

अब केरल में भूमि-समस्या बड़ी तीव्र है। फी आदमी ¾ एकड़ भूमि वहां है। एक वर्गमील में १००० तक आबादी है। इसलिए वहां के आदमियों को बाहर जाना चाहिए। कोई भी कहीं भी जा बस सकता है, ऐसा होना जरूरी है। पर यह बिना अहिंसा के संभव कैसे? प्लानिंग में उसका समावेश कैसे हो? इसीलिए शांति-सेना की बात सोची। ऐसा होना चाहिए कि स्थान-स्थान पर सेवक मौजूद हैं। अन्य समय में वे सेवा-सैनिक बनेंगे, खादी-ग्रामोद्योग का काम करेंगे, लोगों से मिल-जुलकर रहेंगे। प्रसंग पड़ने पर शांति स्थापना करेंगे। अगर आज शांति-सैनिक होते तो रामनाथपुरम् में दंगा न होता। बाद में जी.रामचन्द्रन् और साथियों ने वहां काफी काम किया है। इसका असर पंडितजी पर अच्छा हुआ है। उन्होंने बताया भी, "पुलिस की आवश्यकता क्यों रहे? पीसब्रिगेड्स—शांतिसेनाएं—यह काम करें।"

गांधीजी के बाद हमारा काम

अब गांधीजी नहीं रहे। अतः हम जो ५-५०, अधिक-से-अधिक १०० गांधीजी के अनुयायी हैं, उन्हें चाहिए कि वे अहिंसा-प्रचार का काम करें। अकेले गांधीजी हम ५० आदमियों से भारी थे। अगर गांधीजी होते तो येलवाल के लिए छः साल नहीं लगते। अतः हम जो गांधीजी के आदमी हैं, उन्हें चाहिए कि इसी काम में लग जायं। इसके बिना यह काम नहीं होगा।

ग्रामदान ही नींव

ग्रामदान से भू-समस्या हल हो सकेगी, ऐसा आभास पैदा किया गया है। इस कारण कम्यूनिटी प्रोजेक्टवाले अब कहने लगे हैं कि ग्रामदानी गांवों में ही हमारा काम संभव है, क्योंकि अन्यत्र कम्यूनिटी है कहां? वहां सारे इंडिविज्युअल्स हैं। डे साहब कहते थे—हमारे कार्य से गरीबों को सीधे मदद नहीं पहुंचती। मदद को अपनी तरफ खींचनेवाले जो धनवान या मध्य-वित्त लोग हैं वे ही हमसे लाभ उठाते हैं। इसलिए ग्रामदान और शांति-सेना दोनों पर बल देना चाहिए। इन दोनों के बीच ग्राम-स्वराज्य आता है। पर

हमारी ताकत सीमित है। हम व्यक्तिगत रूप से आदर्शों का पालन कर सकेंगे और सार्वत्रिक प्रचार भी पर चार देहातों को लेकर ग्राम-स्वराज्य का काम संभव नहीं। ईसा, मुहम्मद ने यही किया था। दस-बारह ग्रामदान लेकर उनकी समस्याएं हल करने बैठना व्यक्तिगत गृहस्थी चलाने जैसा है। लोगों की गृहस्थी चलाना मेरा काम नहीं। वह काम ब्रह्मा, विष्णु, महेश के जिम्मे है। सोचिये, आप कौन हैं? अब ग्रामदान पाकर कम्यूनिटी प्रोजेक्ट का प्रयोग करना हो तो किया जा सकता है। पर उसका नतीजा होगा दुनिया की प्रगति को रोक रखना।

काम का घेरा काटकर चला

जेल से मुक्त होकर गोपुरी में रहा। साम्ययोग का प्रयोग किया जा रहा था। लोग बोले, "अब इसे आप ही चलाइये। हम नहीं चला सकते।" मैं तीन महीने वहां रहा, लेकिन मैंने बताया कि मैं उस काम में फंसकर नहीं रह सकता। आप नहीं कर सकते तो दूसरे करेंगे।

स्वावलम्बन भी घेरा

अप्पासाहब—हमारा आदर्श है शोषणरहित समाज की स्थापना करना। स्वावलंबन हमें सिद्ध करना होगा। अपना आदर्श हमें सिद्ध करना ही चाहिए।

विनोबा—यह भी एक अहंता ही है कि हम स्वावलम्बन का अपना आदर्श सिद्ध करेंगे। मुझे चार सेर दूध की जरूरत है। अब यह क्या बिना शोषण के मिलेगा? उसमें स्वावलम्बन करने बैठूं? उससे हम संकुचित बनेंगे, न कि व्यापक। कहते हैं कि बुद्ध मांसाशन किया करते थे। मांसाशन उस जमाने में आम रिवाज था। उन्होंने उसका निषेध नहीं किया। अगर वह करते तो विचार-प्रचार न कर पाते, समाज से अलग पड़ जाते, असफल या हास्यप्रद बन बैठते। मैं गांधीग्राम गया था। जी.रामचन्द्रन् आदि सब थे। मैंने उनके सामने सीधा सवाल रखा—"खादी-ग्रामोद्योग के प्रयोग करने बैठ जाऊं? क्या वह देश के लिए लाभकारी होगा? कहिये, मैं घूमना छोड़ देता हूं।" रात में जी.रामचन्द्रन की चिट्ठी आई—"आपके कार्य के साथ अबतक हृदय था ही, पर अब बुद्धि भी है। मैं

इस कार्य के लिए अपनेको समर्पण कर देता हूं।"

स्वावलम्बन की स्थापना करने से मानसिक समाधान की प्राप्ति होगी, पर व्यापक सामाजिक कार्य नहीं हो पायेगा। युद्ध छिड़ गया, अनावृष्टि की आफत आई तो क्या दशा होगी, सोचिये तो सही। आज देश में चार करोड़ के लिए अन्न की कमी है, और वैसी नौबत आई तो लाखों लोग मर मिटेंगे। जबतक स्वराज्य नहीं था तबतक अंग्रेजों पर दोष लादा जा सकता था। पर वह सुविधा अब नहीं रही। अब वह दोष हमारे ही मत्थे मढ़ा जायगा। यह सरकार नहीं टिक सकेगी। संस्था छोड़कर प्रचार के लिए बाहर जाने की प्रेरणा मिलेगी। नया विचार, गांधी-विचार, लोगों को समझाने की, दुनिया में सबकी ओर पहुंचाने की प्रेरणा मिलेगी। पर वैसी नौबत आ पड़ने की मैं राह नहीं देखता। हम हैं ही कितने? पहले ही हम सब इस कार्य में लग जायंगे तो विचार-प्रचार मुमकिन होगा और सरकार को अपना प्लान बदलने पर मजबूर करेंगे। काल की रफ्तार तेज है, स्वावलम्बन के प्रयोग में अटके रहने के लिए समय नहीं।

ग्रामदान और तत्संबंधी कार्य—डिफेन्स मेजर

अप्पा—असली कठिनाई यह है कि ग्रामदान का महत्त्व लोगों को कैसे समझाया जाय। उन्हें चुप बैठाया जा सकता है, पर उनको अनुकूल कैसे किया जाय? यह है असली समस्या।

विनोबा—येलवाल-परिषद् ने इस बारे में पथप्रदर्शन किया है। यह कहना पर्याप्त नहीं होगा कि ग्रामदान लाभकारी है। बिना ग्रामदान के ग्रामराज्य संभव नहीं और बिना ग्रामराज्य के खतरा है। केन्द्रीय सरकार, राज्य-सरकार, प्लॉनिंग कमीशन, कम्यूनिटी प्रॉजेक्ट इन चारों पर ही निर्भर मत रहिये, अपने पैरों पर खड़े रह जाइये—जवाहरलालजी यह कह चुके ही हैं। बिना ग्रामदान के आप गांव को सुखी नहीं बना सकते, मेरा चैलेंज है। कृष्णदास ग्राम-संकल्प पर बल देता है। कहता है, ग्राम-संकल्प पहले होने चाहिए, पर मैं पूछता हूं—कितने हुए ग्राम-संकल्प? तामिलनाड में ३०० ग्रामदान हुए,तो ग्राम-संकल्प हुए केवल पंद्रह-बीस। ग्राम-संकल्प की अपेक्षा ग्रामदान आसान है। ग्राम-संकल्प में बड़ा झमेला रहता है। उसका

ग्रहण नहीं होता। खादी-ग्रामोद्योग का संकल्प आसान नहीं। ग्रामदान में केवल भूमि का सवाल रहता है। निश्चय हुआ है कि ५० फीसदी जमीन तथा ८० फीसदी लोग इकट्ठे हुए तो ग्रामदान हो सकता है। हरेकृष्ण मेहताब अबतक विरोधी थे। केवल जाहिर ही नहीं लिखते थे, अपने निजी व्यक्तिगत पत्रों में भी इसके खिलाफ आवाज उठाते थे। पर येलवाल से लौटने के बाद उन्होंने आप ही एक पत्रक में प्रकाशित किया कि ग्रामदानी गांवों के लिए हर प्रकार की सहायता मिल जायगी। यह पत्रक गांव-गांव में बांटा गया। येलवाल में मैंने ग्रामदान तथा ग्रामसंकल्प को डिफेन्स मेजर बतलाया। एक विद्यार्थी की भांति पंडितजी ने उसे लिख लिया। अतः अन्य कार्यों में न उलझते हुए भूदान-कार्य में अपने-आपको समर्पित कर देना ही धर्म ठहरता है। ग्रामदान होने पर बाहरी साधन जुटाये जा सकते हैं, अन्यथा मांग और उसकी पूर्ति एक-दूसरे से मेल नहीं खायगी।

प्रचार ही कीजिये

अप्पा—चालू कार्य कैसे संपन्न होंगे ?

विनोबा—नानाभाई भट्ट मिलने आये थे। वह कहते थे कि ऐसा लग रहा है कि जो कल्पनाएं मन में संजोकर रखीं वे शायद असफल होंगी। सरकार ५वीं कक्षा से अंग्रेजी पढ़ाने की सोच रही है। आप इसका क्या इलाज सुझाते हैं? वह बोले, "गांधीवादियों को चाहिए कि और सब काम छोड़कर बीस बरस तक यानी इस पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी के आने तक प्रचार-कार्य ही करते रहें। इससे सरकार का ध्यान इसकी ओर खिंच जायगा और परिस्थिति से लाचार होकर सरकार और जनता हमें अपनी ओर बुलायेगी और तब हमारे काम सफल होंगे। तबतक हमें प्रचार-ही-प्रचार करते रहना चाहिए। इसलिए मेरा कहना यह है कि हम त्रिविध कार्य करें—१. शहरों में शांति-सेना की स्थापना, २. एकाध समूचा जिला ग्रामदान में प्राप्त कर उसका सघन क्षेत्र बनाना, ३. सर्वत्र घर-घर में साहित्य का प्रचार करना।

नव विचार और प्रचार

दूसरी बात यह है जब कोई क्रांतिकारी नया विचार उठता है, तब

घुमक्कड़ी आवश्यक होती है। बुद्ध, ईसा, शंकर, रामानुज सब घूमे। उस घुमक्कड़ी में कभी सुयश, कभी अपयश मिलता ही है। व्यापक प्रयोग होना चाहिए। केलप्पन ने एक जिला केरल में इस प्रकार बनाने के लिए कमर कस ली है। वहां के ग्रामदानी गांव के काम में खादी-ग्रामोद्योग आयोग की ओर से बैकुंठभाई से मदद मांगी है। वहां अदालत-कचहरी उठ जायगी। सब ओर शांति और सहयोग बढ़ जायगा, ग्रामराज्य स्थापित होगा। ऐसा अगर एक जिला बन गया तो समूचा केरल क्यों नहीं बनेगा? इस प्रकार का व्यापक कार्य हम नहीं करेंगे तो एक कोने में पड़े रहना होगा। जब मैं पवनार में रह रहा था तब दुनिया के लोगों को, जो बापू से मिलने आते थे, बापू मेरे पास भेज देते। कहते, "क्या विनोबा को आपने देखा है? जाइये और उनसे मिलिये।" आज अमरीका, इंग्लैंड, जर्मनी, जापान, रूस आदि देशों के लोग इधर आते हैं, पदयात्रा में शामिल होते हैं। इससे उन्हें प्रेरणा मिल रही है।

ग्रामदान और कम्यूनिटी प्रॉजेक्ट

कटक शहर में नवबाबू शांति-सेना इकट्ठी कर रहे हैं। कोरापुट जिला पूरा-का-पूरा ग्रामदानी हो जाय, यह उनकी कोशिश है। साहित्य-प्रचार हो रहा है।

मध्यप्रदेश में बाबा राघवदास[1] घूम रहे हैं। वहां एक सौ पचास ग्रामदान हुए हैं। चार महीने रहने पर पूरा जिला ग्रामदानी हो सकेगा। वहां की राजमोहनी देवी—लोग उन्हें देवी ही मानते हैं—उन्हें वहां रहने के लिए आग्रह कर रही हैं। तब राघवदास ने मुझसे पूछा, "क्या करूं?" मैंने लिख दिया, "रह जाइये।"

कम्यूनिटी प्रॉजेक्ट देश भर फैलने जा रहा है। हर ग्राम का उसमें अंतर्भाव होगा। वे आप लोगों का सहयोग चाहते हैं। अगर आप कहीं एकाध जगह ही हों तो वे आपसे सहयोग कैसे कर सकेंगे? इसलिए उनके निश्चय का अर्थ यही है कि आपका फैलाव उनके समकक्ष चाहिए। इसलिए व्यापक रूप से प्रचार करने की तैयारी करनी होगी।

---

[1] अब दिवंगत हो गये।

नये कार्यकर्ताओं का लाभ

जेल से छुटकारा मिलने के बाद मैं गोपुरी रहा। वहां साम्ययोग का प्रयोग शुरू किया। लोग कहने लगे—अब आप ही उसे सम्हालें, हमसे नहीं सम्हाला जायगा। तब उनका अनुरोध मैंने नहीं माना। कहा, "आप ही केवल मेरे हैं, इस प्रकार की भेद-भावना मेरी नहीं। वह ममत्व होगा, आसक्ति होगी।" अब वे लोग मेरे पास तीस-तीस सालों से हैं। पर उनके लिए संकीर्णता मुझे मंजूर नहीं। इस आंदोलन में कितने नवीन पुरुषार्थी जवान हमें मिले हैं। देखा जाय तो उनमें से कई भरी जवानी के संसार में हैं। निर्मला को एक भले गृहस्थ ने सलाह दी, "तुम यह क्या लेकर बैठी हो? तुम अपना विचार देखो। इसमें तुम्हारा हित नहीं होगा।" पर उसने उनका कहना नहीं माना। सबका त्यागकर वह इस आन्दोलन से एकरूप हो गई है। ऐसे कई युवा लोगों का देश को लाभ हुआ है।

पूर्ण स्वावलंबन और पूर्ण साम्य ही क्रांति

ग्राम-सेवा-मंडल सौ फीसदी स्वावलंबन और ५०-७५ फीसदी साम्य-योग की साधना कर रहा है तो खादीग्राम १०० फीसदी साम्ययोग और ५-१० फीसदी स्वावलंबन का आचार करता है। ऐसे ये दो तरीके हैं। मंडल अब भूक्रांति के लिए बद्ध है। बंग आदि पचास-साठ नये सदस्य बन गये हैं। पर अगर वे उसे ठीक नहीं चला पायें, स्वावलंबन-युक्त पूर्ण साम्ययोग सिद्ध नहीं कर सकें तो उन्हें असफल ही मानना पड़ेगा। उल्टे, बाहरी मदद पर बरसों निर्भर रहकर स्वावलंबन सिद्ध न करना अपयश ही है। जब दोनों पूर्ण होंगे, तभी उसे सिद्धि कहा जायगा, क्रांति माना जायगा।

लक्ष्मीश्वर की राह पर,

१३-१२-५७

: ३३ :

अप्पा से चर्चा—२

हमारी शान्ति-सेना

पुराने और नये गुरु

आज भी कल की भांति अप्पासाहब से बातचीत हुई। प्रारंभ में बंगाली भजन गाया गया। लक्ष्मीश्वर ग्राम से बाहर जाने में बहुत समय लगा। बड़ा गांव है, पुरानी राजधानी है। कन्नड़ रामायण के रचयिता पंप का निवास-स्थान है। यह प्राचीन कवि जैनधर्मी था। पंप की प्रेरणा से कल का भाषण हुआ। सभा बाजार में बुलाई गई थी। वहां उस धूल तथा कोलाहल में विनोबा बोलना नहीं चाहते थे। पर सभा का स्थान कहां हो, कैसा हो, आदि बातों से प्रारंभ करके आज के विश्वविद्यालय और प्राध्यापक तथा पुराने संत और आचार्य तुलना के लिए ले लिये। आज की स्थिति का शोचनीय चित्र उपस्थित किया गया और क्या किया जाना चाहिए, इस ओर ध्यान खींचा गया। पूर्वकाल के ज्ञानी निरपेक्ष थे और स्वयं करुणा से प्रेरित होकर लोगों के पास पहुंच जाते थे। बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानुज आदि ने देश का भ्रमण करके धर्म-प्रचार तथा ज्ञान-प्रचार किया। इस बात को समझाकर और एक नई बात पेश की, वह यह—देहात प्रकृति और परमेश्वर की सेवा करते हैं, शहरों को चाहिए कि वे इन सेवकों की सेवा करें। गांव से बाहर निकलकर आम रास्ते पर आते ही अप्पा से विनोबा बोले—

शांति-सेना के बिना तरणोपाय नहीं

शांतिसेना तब याद आती है, जब कहीं दंगाफसाद हो जाता है, अन्यथा उसका स्मरण नहीं होता, भान नहीं होता। वह रहे, इसलिए कुछ खास कार्यक्रम जरूरी है।

शांतिसेना का सूत्रपात कैसे हुआ? केरल में अत्यल्प बहुमत के बल पर सरकार बनी है। अतः पक्ष-पक्ष के बीच और उसके कारण समाज में तनाव

रहेगा ही। ऐसी सनातनी में बिना शांतिसेना के तरणोपाय नहीं, यह बात ध्यान में आई। उसके बाद रामनाथपुरम में दंगा हुआ। उससे तो शांति-सेना की जरूरत और स्पष्ट हो गई। ऐसी निष्पक्ष सेवापरायण शांतिसेना के बिना समाज का, देश का, काम चलेगा ही नहीं।

दो साल पहले हरिभाऊजी उपाध्याय ने सुझाया था कि शांतिसेना का काम देशभर में मैं करूं, पर उसमें जो उनकी कल्पना थी वह एकदम हेय थी। पुलिस तथा लश्कर से काम लेने से पहले शांतिसेना शांति-स्थापना की कोशिश करे और सफलता न मिले तो पुलिस या सेना को बुलाया जाय। यह थी उनकी कल्पना। पर न यह शांति होगी, न सेना।

समाज की सुव्यवस्थित धारणा के लिए भूमि, शिक्षा तथा शांतिसेना जनता के अधीन रहनी चाहिए, जिससे समाज को मुक्ति और व्यक्ति को शांति, पुष्टि तथा तुष्टि का लाभ होगा। नई तालीम ही हमारी शांतिसेना है। बिहार के तुर्की ग्राम में नई तालीम के सम्मेलन में मैंने यही संदेश सुनाया है।

काकासाहब के और मेरे विचार एक-दूसरे से समानता रखते हैं, पर समय में भेद होता है। यह अनुभव अनेक बार हुआ है। जातिभेद का उच्छेद, शांतिसेना और नई तालीम इनके संबंध में ऐसा हुआ है। जब-जब वह इस संबंध में बोले तब-तब यही हुआ है।

येलविगी के मार्ग पर,
१४-१२-५७

: ३४ :

अप्पा से चर्चा—३

बिना साक्षात्कार के ज्ञान नहीं

पिछले दो दिन अप्पासाहब से ही चर्चा चली। आज वह जानेवाले थे, इसलिए आज भी उनके साथ ही वार्तालाप हुआ। प्रारंभ हुआ एक

बंगाली गीत से, जो कृष्णकांत चक्रवर्ती द्वारा गाया गया। उसकी समाप्ति के बाद विनोबा बोलने लगे—

परमार्थ याने

कल आपने कहा कि सबके प्रपंच की चिंता परमार्थ है। पर वह पूर्णतया सही नहीं। परमार्थ में बहुत अधिक बातें अंतर्भूत हैं।

अप्पा—परमात्मा 'दशांगुलें उरला' (विश्व को व्याप्त करके दस अंगुलियां ऊपर रहता है), वैसे ही परमार्थ परिभाषा की परिधि में नहीं पकड़ा जाता।

कालिक तथा शाश्वत मूल्य

विनोबा—इधर सब लोग कह रहे हैं कि गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग है। तिलक, गांधी, अरविंद सब कर्मयोग का प्रतिपादन करते हैं। यह महिमा उन व्यक्तियों की नहीं। यह काल की महिमा है। काल ही ऐसा है कि वह सबको कर्मयोग की प्रेरणा देता है। कई मूल्य कालिक रहते हैं तो कई शाश्वत। शाश्वत मूल्यों की प्रेरणा बिना साक्षात्कार के नहीं मिलती। श्रीअरविंद ने साक्षात्कार का अनुभव किया था। तिलक ने शायद उतना नहीं किया हो। जब तिलक मांडले-जेल में थे तब वह घंटा-डेढ़ घंटा समाधि में बैठा करते थे। उनके रसोइये ने ऐसा लिखा है। तिलक को केवल स्थूल कर्मवादी, असाक्षात्कारी नहीं कहा जा सकता। ईश्वर पर उनकी कितनी गाढ़ी श्रद्धा थी। अदालत में उन्होंने अपने निवेदन में जो कहा है, There are higher powers (उच्चतर शक्तियां हैं) वह उनकी श्रद्धा के साक्षात्कार का द्योतक है। 'गीतारहस्य' का दूसरा प्रकरण सोचने लायक है। उसमें उनका विचार स्पष्ट हुआ है। चित्त की अलिप्तता उसमें वर्णित है।

साक्षात्कार द्विविध

साक्षात्कार दो प्रकार का रहता है—एक ध्यानरूप और दूसरा प्रेमरूप। बुद्ध का करुण-साक्षात्कार ध्यानरूप था। अरविंद का भी ध्यानरूप था। अरविंद में ज्ञान, ध्यान, कर्म पाये जाते हैं। पर वैसा प्रेम नहीं दिखाई

देता। चैतन्य, ज्ञानदेव, नामदेव में प्रेमरूप साक्षात्कार की झांकी मिलती है। ज्ञानदेव में सब योग पाये जाते हैं—प्रेम, ज्ञान, ध्यान, कर्म। वह ध्यानयोगी थे। उसका सुविस्तृत वर्णन उन्होंने 'ज्ञानेश्वरी' में किया है। गोरखनाथ की भांति यह ध्यानयोगी थे। यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें कर्मयोग नहीं था। 'ज्ञानेश्वरी' में हर योग के निरूपण में वह रंग गये हैं। कर्मयोग का निरूपण भी उसी तन्मयता के साथ उन्होंने किया है। इसके अलावा 'ज्ञानेश्वरी' में गुण-विकास पर भी बल दिया है।

'ज्ञानेश्वरी' धर्म-ग्रंथ

'ज्ञानेश्वरी' धर्म-ग्रंथ है। जिस ग्रंथ में जीवन के सब अंगों का यथोचित परिपोष रहता है, उसको मैं धर्मग्रंथ कहता हूं। मनुस्मृति, कुरान, बाइबल सर्वांगीण नहीं हैं। पर ज्ञानेश्वरी वैसी नहीं। वह सर्वांगीण है। इस कारण वह हमारा धर्मग्रंथ है। कुरान में ध्यानयोग, तत्त्वज्ञान नहीं। उसकी पूर्ति सूफी पंथ ने की है। धम्मपद में नीति, विरक्ति, ध्यान है; पर न प्रेम है, न तत्त्वज्ञान। रामदास में आपकी कही हुई सबके प्रपंच की चिंता है। उन्होंने तो कहा है—चिंता करितों विश्वाची—अर्थात् विश्व की चिंता किया करता हूं। पर वह थे भक्त। उनकी रामोपासना बड़ी कड़ी थी। ये सब प्रेमरूप साक्षात्कारी। पर कोई भी तत्त्व-सिद्धान्त बिना आचार के पूर्ण नहीं होता, बिना विनियोग के पूर्ण नहीं होता।

कार्ल मार्क्स का दर्शन असमाधानकारक

कार्ल मार्क्स ने अपना दर्शन वास्तविकता को लेकर नहीं बनाया। उसका वह प्राग्माटिज्म है, भविष्यद्वाद है। वह अधूरा है, क्योंकि उसकी बुनियाद में साक्षात्कार नहीं और बिना साक्षात्कार के जगत् का यथार्थ ज्ञान संभव नहीं। इसलिए उसका दर्शन उसके अनुयायियों को भी संतोष नहीं दे रहा है। एक बार केरल के शिक्षामंत्री ने सभा में कहा था—"कम्यूनिज्म का ईश्वर से विरोध नहीं है, पर आप लोगों की जो ईश्वरविषयक धारणा है, जो विधिविधान है, वह उसे मंजूर नहीं।" किन्तु वेदान्त की कल्पना स्वीकार करने में उसे कठिनाई नहीं महसूस होगी। शंकराचार्य के तत्त्व-सिद्धान्तों का असर हुए बिना नहीं रहेगा। केरल के कम्यूनिस्ट इतना बोल सकते हैं, यह

उसीका परिणाम है। अंतिम सत्य बाह्य भौतिक आविष्कारों द्वारा नहीं मिलेगा। उसके लिए शरीर, समाज, पृथ्वी, सबसे अलग होकर अनुभव करना होगा।

सावनूर की राह पर,
१५-१२-५७

: ३५ :

अप्पा से चर्चा—४

वर्णाश्रम और संन्यास

वर्ण और आश्रम

आश्रमधर्म तथा वर्णधर्म मिलकर वर्णाश्रमधर्म शब्द प्रयोग होता है, तो भी दोनों भिन्न हैं। वे अविभाज्य नहीं। जिस समाज में वर्ण-धर्म नहीं है, उसमें आश्रमधर्म रह सकता है, इसके अलावा वर्णधर्म सनातन नहीं। सत्ययुग में एक ही वर्ण माना गया है, पर आश्रमधर्म वैसा नहीं। वह सब समाजों तथा कालों में लागू होनेवाला है।

ब्रह्मचर्य द्विविध

ब्रह्मचर्य द्विविध है। एक वेदाध्ययन के लिए तथा दूसरा मुक्ति के लिए। आपका, मेरा ब्रह्मचर्य दूसरे प्रकार का है। जिनमें अध्ययनवृत्ति, सेवा-वृत्ति रही हो वे ब्रह्मचर्याश्रम में रहेंगे। जिनमें वह नहीं है, वे ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकते हैं, जैसा कि शंकराचार्य ने किया।

गृहस्थाश्रम से सीधे संन्यास नहीं

जिन्हें संतानकामना है वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होंगे। गृहस्थाश्रम के पहले और बाद में संयम है। गृहस्थाश्रम में भी है। केवल संतानकामना की पूर्ति की गुंजाइश है। गृहस्थाश्रम से सीधे संन्यासग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि गृहस्थाश्रम के अनुषंग से जो कमी प्राप्त होती है, उसे हटाने के

के लिए संन्यास से पूर्व वानप्रस्थाश्रम की आवश्यकता मानी गई है।

गृहस्थ जब विषयवासना से तथा गृह से मुक्त हो जाता है तब वह वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार कर सकता है। इस आश्रम में घर और आसक्ति छोड़नी पड़ती है। पत्नी को छोड़ने की जरूरत नहीं मानी गई है।

संन्यास द्विविध

ब्रह्मचर्याश्रम से तथैव वानप्रस्थाश्रम से संन्यास ग्रहण उक्त है। यह संन्यास दो प्रकार का होता है—१. ज्ञान-संन्यास २. विविदिषासंन्यास। ज्ञान के कारण गृहीत संन्यास ज्ञानसंन्यास है। पर ज्ञान के उद्‌भव के पहले ज्ञान-प्राप्ति के हेतु तपस्यारूप जो संन्यास स्वीकार किया जाता है उसे शास्त्रों में विविदिषासंन्यास कहते हैं। यह संन्यास भी दो प्रकार का है—वृत्ति-प्रधान और कर्म-प्रधान। मान लीजिये एक आदमी बंबई में रहता है। उसमें संन्यास-ग्रहण की प्रवृत्ति जगी, पर वह अपनी जगह तथा काम छोड़ नहीं सकता। तब वह क्या करे? एक तो उसको चाहिए कि वह संन्यास के प्रतिकूल वातावरणवाली बंबई छोड़ दे या संन्यास-ग्रहण की इच्छा छोड़ दे, या उस परिस्थिति में जो संभव हो उसे करे। इसे कहा जायगा कर्मप्रधान संन्यास। दूसरा आदमी ऐसा होगा कि वह कहेगा कि मुझे अमुक वृत्ति संजोनी है तो उसके प्रतिकूल वातावरण तथा कर्म का त्याग मुझे करना ही चाहिए। वह अपनी वृत्ति हमेशा स्थिर रखेगा। उसमें बाधा देनेवाले सब कुछ को काटकर दूर हटायेगा। इसीको मैं वृत्तिप्रधान संन्यास मानता हूं। इसे कोई एस्केपिज्म कहेगा। पर वह आवश्यक है। क्रिकेट के खेल में मैदान का सवाल सबको परिचित है। अपने मैदान पर लड़ना आसान होता है। वृत्ति-प्रधान संन्यासी अपना मैदान नहीं छोड़ता। तो भी अपने क्षेत्र में भी उसे कम लड़ना नहीं पड़ता। किसी भी मैदान पर बाजी मार ले जानेवाली टीम की अपेक्षा शायद इसे कम अंक मिलेंगे। पर अपना निजी क्षेत्र चुनना बुद्धिमानी ही होगी। गांधीजी से पूछा गया—"बच्चे को सांप काटने जा रहा है। इस खतरे में आप सांप को मारेंगे या नहीं?" गांधीजी ने जवाब दिया, "मैं बच्चे का अभिभावक हूं। इस नाते उसको बचा लेना मेरा धर्म है, जिसे मैं छोड़ नहीं सकता। इसलिए अपरिहार्य बनने पर उस सांप को मारना पड़े तो मैं मारूंगा। पर मैं समझूंगा कि वह मुझसे पापकर्म हो गया

है। इसीको जैनधर्म में अणुव्रत कहा जाता है। यह सेकंडरी पोजिशन है। आदर्श में समझौते के लिए गुंजाइश कैसी ? संन्यास को मैं वृत्ति-प्रधान ही मानता हूं। हमें वृत्ति-प्रधान ही बनना चाहिए, न कि कर्म-प्रधान।

इसके उपरांत अप्पा के लिखे सूदखोरी के लेख पर विनोबाजी ने चर्चा छेड़ दी। अंत में तीन दिन की चर्चा का समारोप किया।

चर्चा का समारोप

व्यक्तिगत स्वावलंबन पर हद से ज्यादा बल देने से दोनों में से एक भी बात ठीक-ठीक नहीं सधती। व्यक्ति की जीवन-यात्रा भी ढंग से नहीं चलती और समाज-क्रांति का उद्देश्य भी सफल नहीं होता। पहले आठ घंटे कातकर छः पैसे मैं कमाता था। उसके बाद कांचन-मुक्ति का प्रयोग किया, पर उसमें कहने लायक सफलता नहीं मिली। अंत में ऐसा न हो कि 'लाहे कारन मूल गंवायो।'

सावनूर के मार्ग पर,
१५-१२-५७

: ३६ :

साक्षात्कार की कथा

साक्षात्कार का रूप द्विविध

मैं—कल आपने साक्षात्कार की बात छेड़ी। पर इस साक्षात्कार का स्वरूप क्या है ?

विनोबा—कोई बात समझ लेना सामान्य बुद्धि का काम है। किसी प्रश्न के सम्बन्ध में निःशंक रहना, किसी भी शंका या आक्षेप का संतोषप्रद उत्तर देने की क्षमता रखना, उसके बारे में पूर्ण निश्चय रहना निश्चयात्मिका या व्यवसायात्मिका बुद्धि है। यही बुद्धिगत साक्षात्कार है। दूसरा साक्षात्कार समाधिगत होता है, जहां तर्क-वितर्क के लिए स्थान नहीं। इन दोनों प्रकारों की बुनियाद में व्यापक ज्ञान रहता है।

साबरमती की अनुभूति : एकाग्रता

१९१६ से २० के दरमियान साबरमती-आश्रम में रहता था। रात को सुनसान में, शब्द और दीप के शांत हो जाने पर, अपने कमरे के अन्धेरे में अपनी दरी पर बैठे-बैठे मैंने ध्यान करना शुरू किया और शीघ्र ही एकाग्रता प्राप्त हो गई। उसमें मुझे बहुत समाधान मिलने लगा। पर आगे चलकर शंका उठ गई कि यह शुद्ध समाधि न हो, कुछ नींद भी हो। समाधि का आभास तो नहीं है? इस विचार से मैंने तीन महीने के इस प्रयोग को त्याग दिया और रात के बदले बड़े तड़के ३ बजे उठकर ध्यान करने लगा। उसमें जल्द सफलता नहीं मिली पर, प्रयत्नों के फलस्वरूप धीरे-धीरे एकाग्रता का अनुभव मिलने लगा। यह अभ्यास मैंने छः महीने तक किया। ध्यान और समाधि की यह मेरी पहली अनुभूति रही।

परंधाम का अनुभव—शून्यता

नालवाड़ी में १९३७ में आठ-आठ घण्टे सूत कातने के प्रयोगों के कारण मैं दुबला हो गया था और उस हालत में बुखार और खांसी ने हैरान किया। इस कारण जमनालालजी चिन्तित हो उठे। "मेरी मां ४२ की उम्र में चल बसी। तुकाराम का भी देहपतन उसी उम्र में हुआ, और मेरा भी ४२वां साल चल रहा था। तो अब मैं मानता हूं कि मेरी जीवन-यात्रा खत्म होने को है।" कभी-कभी विनोद में मैं ऐसा भी बोल जाता। देह की तो फिक्र करता ही नहीं था। यह सब जानकीदेवी ने जमनालालजी से कहा और जमनालालजी ने बापू से कहा कि विनोबा की तन्दुरुस्ती चिंताजनक है, आप उन्हें बता दें। बापू ने मुझे बुलाया। बापू बोले, "तुम अपना शरीर ठीक नहीं रखते हो तो अब तुम मेरे पास में आकर रहो। तुम्हें मैं अपने कब्जे में लेता हूं। किसी अच्छे डॉक्टर से जांच करवा लेंगे।" मैंने कहा, "आपके उपचारों पर मेरा भरोसा नहीं। आपके पीछे यों तो कितने ही काम रहते हैं, उनमें बीमारों की तरफ ध्यान देना भी है। बीमार भी बहुत हैं, जिनमें से मैं एक रहा। फिर मैं किसी डॉक्टर के हाथ अपने शरीर को बेचना नहीं चाहता, वैसे तो शरीर और आत्मा को मैं अलग नहीं मानता। अतः मैं ही अपनी तबीयत की बात देख लेता हूं।" बापू बोले, "तुम कुछ नहीं

कर रहे हो, इसलिए तो मैं बताता हूं। लेकिन ठीक है, देखूं तो सही तुम क्या करोगे।" बापू ने सुझाया कि स्थान-परिवर्तन के लिए मसूरी, नंदीदुर्ग, महाबलेश्वर या और किसी ठंडी हवावाले स्थान में जाकर रहना ठीक होगा। मैं बोला, "स्थान-परिवर्तन का सुझाव मुझे मंजूर है। स्थान मैंने चुन लिया है—पवनार। वहां मैं जाऊंगा।" बापू बोले, "ठीक, गरीबों के लिए उचित स्थान ही तुमने निश्चित किया।" उसके बाद ७ मार्च १९३७ को मैं पवनार चला गया। मोटर में जाना पड़ा, क्योंकि पैदल चलने की भी ताकत कहां थी ? मेरी शुश्रूषा के लिए सत्यव्रतन् था। मोटर जब धाम नदी के पुल पर पहुंची तब मैं बोल उठा—'**संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया**'। सब कामों और संस्थाओं की चिंता एकदम छोड़ दी और बिल्कुल निश्चिन्त होकर बंगले में प्रवेश किया। केवल ज्ञानदेव और नामदेव के अभंगों की पुस्तकें साथ थीं। घण्टों मन शून्य बनाकर पड़ा रहता। यह मेरा शून्यता का अनुभव था। इन दिनों जो खा लेता, सब शरीर को पुष्टि प्रदान करता। बीच में एक महीना नई तालीम के लिए दिया। इस महीने में वजन में बिल्कुल वृद्धि नहीं हुई। अन्य महीनों में हर महीने चार पौंड के हिसाब से वजन बढ़ता रहा और ९ महीनों में ३६ पौंड वजन बढ़ गया। इस अनुभव में केवल शून्यमनस्कता ही रही। घड़ी को जिस प्रकार बन्द रखा जाय वैसे ही मन को बन्द रखा गया था।

चांडिल का अनुभव : निर्विकल्प समाधि

इसके बाद १९५२ में भूदान-यात्रा में चांडिल में मैलिग्नंट मलेरिया से बीमार पड़ा। औषधि लेना नहीं, केवल रामनाम से ही बीमारी से मुक्त हो जाने का विचार था। बुखार पीछा नहीं छोड़ता था और कमजोरी इतनी बढ़ गई थी कि कोई मेरे जीने की उम्मीद नहीं रखता था। श्रीकृष्ण सिंहजी आये थे। वह और लोगों से बोले, "मगनलाल गांधी इस तरफ आये और बीमार होकर चल बसे। अब सन्त विनोबा अगर दया नहीं करेंगे तो बिहार के लिए वह बड़ा कलंक होगा। हमारी प्रार्थना है कि आचार्य दया करें और दवा ले लें।" बड़ी व्याकुलता के साथ अश्रुसिक्त नेत्रों से वह कह रहे थे। इस हालत में १७ दिसम्बर को मैं करीब-करीब

चल बसने को ही था। पास के लोगों से मैंने कहा, "मुझे बैठा दो।" मुझे याद है, राजम्मा थी। उसने और लोगों की मदद से मुझे बैठा दिया और मैं समाधि में मग्न हुआ। शास्त्र में जिसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं, उसी प्रकार की वह अनुभूति थी। निर्गुण स्वरूप की अनुभूति थी। उसका उल्लेख मैंने किया था। उसे जानने के लिए जाजूजी ने अनेक बार लिखा-पढ़ी की। पर मैंने कोई जवाब नहीं दिया, जिससे जाजूजी ने समझ लिया कि यह अनुभव शब्दों में अभिव्यक्त होने की क्षमता नहीं रखता और वह चुप हो गये।

उलाह का अनुभव : सगुण स्पर्श

इसके अनंतर मुंगेर जिले में उलाह ग्राम में शिवमन्दिर के तलघर में ठीक पिंडी के नीचे बैठा था, तब यह अनुभव हुआ कि शिवजी मुझपर आरूढ़ हैं। मैं उनका नंदी हूं। अब 'अधिरूढ़-समाधियोग' का नया अर्थ मालूम हुआ। अबतक मैं उसका आशय 'योगारूढ़' याने 'योग पर आरूढ़' ही समझ रहा था। पर अब वह यह हुआ—योग ही जिसपर आरूढ़ हो गया है, जो योग का वाहन बन गया है। यह था सगुण स्पर्श। उसके बाद में कार्यकर्ताओं को डांटा करता। उसमें मुझे कुछ बुरा नहीं लगता। कार्यकर्ताओं को दुःख होता, पर मैं उन्मत्त की भांति बोलता। मेरे पिछले भाषणों में और बाद के भाषणों में बारीकी से देखने पर कुछ फर्क जरूर महसूस होगा।

केरल का साक्षात् आलिंगन का अनुभव

उसके बाद २२ अगस्त १९५७ को कर्नाटक प्रवेश के दो दिन पहले मसहरी में सो रहा था कि बिच्छू या और किसीने काटा, सो बाहर आ गया। बिछौना उठाकर देखा गया तो गोजर था। लगातार वेदनाओं का अनुभव हो रहा था। वेदनाएं इतनी तीव्र थीं कि एक जगह बैठा नहीं जाता था। इधर-से-उधर, उधर-से-इधर, बेचैनी से घूम रहा था। राजम्मा के पिताजी ने मन्त्र का भी प्रयोग किया, पर कुछ भी असर न हुआ। वेदनाएं असह्य हो चली थीं। पांच घण्टे तक यही सिलसिला जारी रहा। आखिर बिछौने पर लेट गया। आंखों से आंसुओं की झड़ी-सी लग रही थी। वल्लभ

को लगा, मैं दर्द के मारे आंसू बहा रहा हूं। वह मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगा। मैंने उसे बताया मुझे, कोई दुःख नहीं। मैं सो जाता हूं। तुम भी सो जाओ।

मैं मन में गुनगुना रहा था—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदये मदीये
सत्यं वदामि च भवान् अखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघु-पुंगव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

पर दुःख दूर हो जाने की इच्छा तो थी ही। कहता था **'सत्यं वदामि'**। पर वह था **'झूठं वदामि'** ही। वह अहंकार ही था। जोर-से मन में बोल उठा—"कहांतक तू सतायेगा?" और मेरी वेदनाएं मिट गई। मुझे आलिंगन का अनुभव हुआ। आंखों से आंसू झरने लगे। मैं लेट गया और दो मिनट के भीतर गहरी नींद में डूब गया। वेदनाएं तो मिट गईं, पर दाहिने हाथ की तर्जनी बाद में डेढ़ महीना दुखती रही, और अब भी बायें हाथ की तर्जनी जैसी नहीं हुई। किंचित् जड़ता बाकी है। यह अनुभव सगुण (साकार?)-सा था। महादेवी लगातार पीछे पड़ी कि मैं इस अनुभव का वर्णन करूं। पर पंद्रह-बीस दिन तक उसे मैं टालता ही रहा। कहा—दामोदर को आने दो, सबको बताऊंगा। आखिर एक दिन बता दिया। दामोदर नहीं आया था।

संतों के साक्षात्कार

चैतन्य का साक्षात्कार प्रेममय था। वल्लभाचार्य का भी प्रेममय था। पर उसमें ज्ञान भी था। वह उतना आविष्ट नहीं था। बुद्ध का साक्षात्कार ध्यानमय था और अरविन्द का भी। यद्यपि वे उसे पूर्ण कहते तो भी मैं उसे ध्यानमय ही समझता हूं। गांधीजी का साक्षात्कार भावनापूर्ण था। पर ज्ञानदेव का पूर्ण था।

बंकापुर की राह पर,
१६-१२-५७

: ३७ :

अहंकार का नाश ही मुक्ति

विंदु की शुद्धि और वृद्धि सिंधु में विलीन होने में

मैं—कल के प्रार्थना-प्रवचन में आपने अकेले तपः साधना करनेवालों को स्वार्थी बताया। वह कहांतक उचित है? सामुदायिक साधना की जाय कहना ठीक है।

विनोबा—जहांतक ठीक होगा वहांतक। कोई बीमार हो और उसे कुछ समय तक पचगनी में या कहीं अन्यत्र अलग उपचार के लिए रखा जाय तो समझा जा सकता है। उसी प्रकार मनःशान्ति के लिए कोई कुछ समय तक एकान्त में साधना करने जाय तो समझा जा सकता है। लेकिन संसारी आदमी जैसे मेरा घर, मेरी दारा कहा करते हैं, वैसे मेरा तप, मेरी मुक्ति कहते रहना भी उसी प्रकार का काम होगा। दोनों अहंकार ही हैं। रस्सी को सांप समझकर उससे भागना या उसे पीटना दोनों अज्ञानमूलक ही हैं। समूचे समाज की हितसाधना में अपना हित है। एकान्त में उसीके प्रतिनिधि-रूप बनकर चिंतन करना ठीक है, जैसा कि गायत्री मन्त्र में है। पर यह मानना कि मैं कोई अलग हूं, ज्ञानी हूं, अहंकार ही है। उसे मिटाना ही मुक्ति है। पर उस अहंकार को धारण करके तपस्या शुरू करना वदतोव्याघात का अच्छा उदाहरण होगा। मुक्त होकर जाना कहां? मुक्ति की धारणा ही मूल में भ्रांत है। मेरा गुण, मेरा दोष, इनसे मुक्त होना चाहिए। उनसे अलग हुए बिना मुक्ति नहीं। बिंदु की शुद्धि और वृद्धि सिंधु में विलीन हो जाने में है। जो मेरा तप, मेरी मुक्ति कहता है, उसे पूंजीवादी ही कहना होगा। इसलिए उसे स्वार्थी कहना पड़ता है।

समूह-साधना सुलभ

समूह-साधना में ब्रह्मचर्य-पालन भी आसान होता है। वात्सल्य-भाव की तृप्ति के लिए निजी संतान की आवश्यकता नहीं। औरों के बच्चे होते ही हैं। गृहस्थाश्रमी के लिए घृणा का भाव न रहे। आखिर मुक्ति के मानी अहंमुक्ति ही है। दूसरी मुक्ति कहां की? साम्यसूत्रों में आखिरी सूत्र है—

अहंमुक्तिः शब्दात्, अहंमुक्तिः शब्दात्। (वल्लभ बोला—शब्दात् से क्या मतलब ? मैं बोला—मेघ-शब्दात्, दादोशब्दात्।)

सिद्धि का मूल्य

योग-साधना से सिद्धि प्राप्त होती है, पर वह मुक्ति नहीं। वह तो मुक्ति के मार्ग में रोड़ा है। उसका मूल्य ही कितना ? रामकृष्ण परमहंस ने एक योगी का किस्सा सुनाया है। उसने बीस बरस की साधना के बाद सिद्धि प्राप्त की और पानी पर से पैदल चलता आया और बोला—देखो, मैं कैसे पानी पर चलकर आया ! उसपर रामकृष्ण बोले—यह क्या योग है ? यह क्या मुक्ति ? दो पैसे देकर नाव में बैठकर वह नदी पार कर सकता था। उसके लिए बीस बरस की साधना की क्या जरूरत ? बीस बरस की साधना की कीमत दो पैसे !

मेरा बाल्यकाल का योग-साधन

जब मैं छोटा था, मां गर्मी की छुट्टियों में कोंकण जाती थी। मैं और पिताजी बड़ौदा में रहते। पिताजी दफ्तर जाते और मैं अकेला घर रहता। उस वक्त मैं नल की छोटी धारा सिर पर छोड़ लेता। ब्रह्मरंध्र पर संतत धारा के पड़ने से कुंडलिनी जागृत होगी, यह धारणा थी मेरी। इसी समय अरविंद के भाई वारींद्र घोष के बारे में अखबार में प्रकाशित हुआ था कि वह जेल में योग-साधना करता है। कहा जाता था कि उसका आसन जमीन से फुट-आधा फुट ऊपर उठा करता। मैंने भी कोशिश की, पर आसन क्यों ऊपर उठने लगा ! जांघों को यथासंभव ऊपर उठाता, पर जघन वैसे ही जमीन पर टिका रहता। तो भी मैंने समझ लिया कि उसे छोड़कर भी ५० फीसदी सफलता मिली। (वारींद्र का यह योगसाधन था सिर्फ अंग्रेजों को भगाने के हेतु।) मैं भी योगी बनने की ऐंठ में इठलाता फिरता। इतना ही मेरा योग रहा।

मेरा ज्ञानेश्वरी पठन

वैसा ही मेरा ज्ञानेश्वरी का पठन। १६ वें बरस में, १९११ में, मैंने पहली बार ज्ञानेश्वरी पढ़ डाली। तब वह कुछ भी समझ में नहीं आती थी, पर पढ़ चुकना ही भूषणास्पद था। उस समय मैंने एकनाथी भागवत भी

पढ़ लिया था। वह कुछ-कुछ समझ में आता था। आगे चलकर सन् १९२६ में ३१ साल की उम्र में ज्ञानेश्वरी चार बार पढ़ डाली। उस वक्त मेरी ग्रहण-शक्ति काफी बढ़ गई थी।

नरेगल की राहपर,
१७-१२-५७

: ३८ :

बुरे विचारों का निर्मूलन

विकारों का सप्रेशन तथा ऑप्रेशन

इसके अनंतर गोविंदभाई ने पूछा—

१. मन में अच्छे विचार अचानक आ टपकते हैं, बुरे विचार भी। सो क्यों और कैसे ?

विनोबा—पूर्व-संस्कारों के कारण आते हैं। पूर्वजन्म के कारण भी कई आते हैं। चालू जन्म के भी रहते हैं। मन में भी वासनाएं भरी रहती हैं। परिस्थिति का भी असर होता है।

एक सज्जन बीमारी में बड़बड़ाने लगे। वह इतनी अश्लील भाषा बोलते थे कि सुननेवाले अचंभे में आते। वह अतीव सभ्य और भद्र पुरुष थे।

उसकी हमें मदद करनी होगी। उसके साथ हमदर्दी रखनी चाहिए। उनसे घृणा कतई न करें। उन्होंने प्रयत्नों से अपने वासना-विकारों को सर नहीं उठाने दिया। यह उसका पराक्रम है।

पर आज के मनोवैज्ञानिक कहते हैं—

"विकारों का सप्रेशन (दबाना) करना नहीं चाहिए। विकारों को दबाना, रोक रखना ठीक नहीं।" पर यह विचार गलत है। उनको 'सप्रेस' नहीं करना है तो क्या वे हमें ऑप्रेस कर डालें ? उनके बस में हो जायं ? उनका शिकार बनें ? विकारों को स्वैर होने देना पराक्रम-शून्य बनना है !

सौंदर्य-मात्र भगवत्सौंदर्य लगे

२. सुंदर फूल देखते ही उसे नाक में ठूंसना, बालों में खोस देना 'क्रूड', वहशी है। उससे पवित्रता तथा प्रसन्नता निर्माण होनी चाहिए।

सुन्दर स्त्री को देखते ही भोग की वासना क्यों पैदा हो? पवित्रता का प्रादुर्भाव क्यों न हो? जब कल्याण के सूबेदार की बहू शिवाजी के सामने उन्हें अर्पण करने लाई गई तब वह क्या बोले? "आपके समान मेरी मां सुंदर होती तो मैं भी सुंदर बन जाता।" सौंदर्य को देखकर ऐसी धारणा हो कि वह भगवत्सौंदर्य है, पवित्र है।

तामिलनाड में चंद्रशेखर की लड़की तथा श्रीरंगपट्टण में एक नटी ने मेरे सामने नृत्य किया। उसे देखकर मुझे लगा कि नटराज श्रीकृष्ण ही नाच रहा है मेरे सामने। गीतगोविंद का वह अभिनय था। कृष्ण और राधा का वह अभिनय था। पर बाद में मालूम हुआ कि उस लड़की के पीछे लड़के पड़े थे।

स्थूल उत्तान शृंगार को अश्लील बताकर खिल्ली उड़ाते हैं, पर *उससे भी बढ़कर अश्लीलता रहती है, विकृतता रहती है ध्वनित या सूचित शृंगार में।*

वासनाएं अंतर में रहती हैं, सृष्टि में कामवासना खुलेआम दिखाई देती है, साहित्य उसे उभाड़ देता है, इससे मन मलिन हो जाता है। पर निग्रह से विकारों का शमन करना चाहिए।

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः। परो हि योगो मनसः समाधिः।

नरेगल की राह पर,
१६-१२-५७.

: ३९ :

अंतिम अवस्था अनेकविध संभवनीय

मैं—इस्लाम में मुक्ति की क्या कल्पना है ?

विनोबा—इस्लाम में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत जैसी कल्पना है। (आदम खुदा नहीं, खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं)।

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥

इसके समान ही उनकी मुक्ति की कल्पना है।

मैं—मुक्ति अगर अहं-मुक्ति है तो फिर द्वैत की गुंजाइश कहां रही ? सलोकता, समीपता, सरूपता तथा सायुज्य चार मुक्तियां वर्णित हैं, पर सायुज्य ही सच्ची मुक्ति है। बाकी सब नाममात्र की मुक्तियां हैं।

विनोबा—मुक्ति से इंद्रिय सुखविनिःस्पृहता ही समझनी चाहिए। अंतिम अवस्था अनेकविध हो सकेगी। इसके अलावा एकविध अवस्था का अनुभव व्यक्ति-व्यक्ति के लिए अनेकविध हो सकेगा। पानी एक है, वह हिम प्रदेश में गर्म मालूम होगा तो उष्ण प्रदेश में शीत। ईश्वर-ज्ञान अनन्त है। उसे अपने अनुभव से सीमित कैसे किया जा सकता है ?

हावेरी के मार्ग पर,
१९-१२-५७

: ४० :

कणिका—४

डा. अनंतरामन् से चर्चा हुई। चर्चा करने से पहले विनोबा बोले—

सरकारी कर्मचारी क्या कर सकेंगे

धारवाड़ के असिस्टेंट कमिश्नर मेरे पास आकर बोले—"हम आपकी

क्या सेवा कर सकते हैं, बताइये।" मैंने बताया--"सरकार की ओर से जो करना है उसे तो आप करेंगे ही। पर व्यक्तिशः आप क्या कर सकते हैं, बताता हूं। १. आप संपत्तिदान कर सकते हैं। २. साहित्य-प्रचार किया जा सकता है। ३. ग्रामदानी गांवों में जाकर उनको बधाई देते हुए उन्हें उत्साहित कर सकते हैं। यह आप कर सकेंगे और मेरी अपेक्षा है कि आप इतना करें।

शहरों का कार्य

अनंतरामन्--सर्वोदय-विचार के लिए हम शहरों में क्या करें?

विनोबा--अच्छा सवाल किया आपने। शहरों की उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा। शहरों की स्थिति विशिष्ट होती है। वहां शिक्षित समाज रहता है। देहात में काम करनेवाले सेवक वहां काम नहीं आयेंगे। शहर में काम होना ही चाहिए। मैंने भारत भर के छः शहर चुन लिये हैं--बेंगलूर, बंबई, बड़ौदा, कटक, काशी और गया। बेंगलूर में दक्षिण तथा उत्तर भारत का समन्वय है, दुनिया भर के लोग भी वहां आते हैं, रहते हैं। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र है। आबोहवा की दृष्टि से भी वह अच्छा है।

बंबई बड़े शहर का नमूना है। वहां भारत भर के सब राज्यों तथा भाषाओं के और विदेशी भी लोग है। वह कॉस्मॉपॉलिटन है। बड़ौदा मध्यम शहर का नमूना है, वह एक सांस्कृतिक केन्द्र है। कटक कोरापुट जिले के ग्रामदानी सघन क्षेत्र का निकटर्ती स्थान है। वहां नवबाबू कार्य कर रहे हैं। काशी विद्या का केन्द्र है, वहां हिन्दू यूनिवर्सिटी है। भारत भर के लोग वहां आते हैं। गया बौद्धों का बड़ा तीर्थ-क्षेत्र है। इस प्रकार मैंने छः शहर चुन लिये हैं। यहां सर्वोदय का, मुख्यतः शांति-सेना की स्थापना का काम होना चाहिए।

अनंतरामन्--पर हम पूर्ण समय नहीं दे पायंगे तो हम शांति-सैनिक कैसे बन सकेंगे? या हमें अपना चालू काम छोड़ देना पड़ेगा?

विनोबा--शुरू से ही अपना काम छोड़ने की आपको जरूरत नहीं। आप हर रोज दो घंटे दे सकते हैं। आप लोगों की सहायक शांति-सेना हो सकती है, बेंगलूर में दो हजार शांति-सैनिक और पांच हजार सहायक

सैनिक चाहिए। हिंसा-विरोधी और वैधानिकता से अलग, यह हमारी योजना रहेगी।

शहर में १. शांतिसेना, २. सहायक शांतिसेना, ३. साहित्य-प्रचार, ४. संपत्तिदान और ५. सर्वोदय-विचार के अध्ययन तथा परीक्षा का केन्द्र, ये काम होने चाहिए।

... ...

खादी ही क्यों ?

प्रश्न—एकादश-व्रतों में स्वदेशी एक व्रत है। अब मिल का कपड़ा भी स्वदेशी है और खादी भी। फिर खादी का ही आग्रह क्यों ?

उत्तर—स्वदेशी है, इसलिए विष खाना बुद्धिमानी नहीं है। १०० फी-सदी स्वदेशी विष खाकर सौ फीसदी मौत को क्या गले लगाना है ?

मेरी चले तो मैं सब मिलें बंद करके खादी सार्वत्रिक कर दूं। आज केवल एम्प्लायमेंट का सवाल नहीं, अंडर-एम्प्लायमेंट का सवाल उससे भी बड़ा है। उसे हल करने के लिए खादी जैसा समर्थ उद्योग दूसरा नहीं। दूसरा कोई दिखा दे तो मैं खादी छोड़ने को तैयार हूं। मेरा चैलेंज है और वह आज भी कायम है। गत चालीस वर्षों में ऐसा दूसरा उद्योग दिखाने में कोई समर्थ नहीं हुआ।

स्त्रियों के सब उद्योग-धंधे अब पुरुषों ने छीन लिये हैं। पीसना, कूटना, धाना, कताई, वस्त्रोद्योग सब स्त्रियों के काम थे। उन्हें अब पुरुष चलाते हैं। स्त्रियों के लिए अनुकूल ये काम उनके जिम्मे छोड़कर पुरुषों को दूसरे कठिन काम करने चाहिए।

आज चपरासियों को खादी की वर्दी दी जाती है, पर वरिष्ठ नौकरों को नहीं। जब मैं दिल्ली में था तब इन सब सनदी नौकरों की, खादी की अनिवार्यता मान्य करने की तैयारी थी। पर उन्हें वैसी सूचना नहीं मिली। फल यह हुआ कि खादीधारी मिल के सूट-बूटवाले को सलाम कर रहा है, यानी यह हुआ कि खादी मिल की महरी बन गई।

आखिर खादी ही चलेगी, मिल नहीं। आबादी बढ़ रही है, हर साल आधा फीसदी। इस बढ़ती जनसंख्या को कौन-सा काम देंगे ? दुनिया को खादी अपनानी पड़ेगी।

परिवार-नियोजन

प्रश्न—फैमिली प्लॉनिंग के बारे में आपकी राय क्या है ? सरकार उसपर लक्षावधि रुपये खर्च कर रही है।

उत्तर—उससे अनैतिकता, स्वैराचार ही बढ़ जायगा। प्रजा निर्वीर्य बनेगी। आज गार्हस्थ्य १८ से ५८ की उम्र तक प्राय: चलता है। ४० साल की यह अवधि २० साल की की जाय, याने २५ से ४५ तक रहे।

इंग्लैंड में हर वर्ग मील में २७५ लोग रहते हैं। हिन्दुस्तान में उससे अधिक नहीं हैं। इसलिए प्लैनिंग करना हो, तो वीर्यसंग्रह की ही दृष्टि से, वीर्य-हानि की दृष्टि से नहीं।

१०० वर्ष की मानवी आयु मानी जाय तो गृहस्थाश्रम के हिस्से में २५ वर्ष आते हैं, पर आज १०० की आयु कल्पना में ही रही है। ८० वर्ष ले सकते हैं, वह तो पहुंच में है। उसका बंटवारा पच्चीस, बीस, पच्चीस और दस यों किया जाय। पच्चीस साल ब्रह्मचर्य, बीस साल गार्हस्थ्य, पच्चीस साल वानप्रस्थता, दस साल संन्यास। पैंतालीसवें साल में वान-प्रस्थाश्रम स्वीकार करने से समाज-सेवा के लिए बड़ी तादाद में सेवक मिलेंगे।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य की प्रेरणा से समाज-सेवा जिस प्रकार हो सकती है, उसी प्रकार प्रेम-प्रेरणा से क्यों नहीं हो सकेगी ? आप प्रेम-प्रेरणा को हीन क्यों मानते हैं ?

उत्तर—हिन्दू धर्म में गृहस्थाश्रम की जो प्रतिष्ठा है, वह और किसी धर्म में नहीं, न ज्यू धर्म में है, न कैथॉलिक पंथ में।

हिन्दूधर्म ने संतानोत्पत्ति के हेतु स्त्री-पुरुष समागम को धर्म माना है। तदितर सम्बन्ध स्वैराचार है। प्रेम के नाम पर विषयासक्ति को मान्यता नहीं दी जा सकेगी। प्रजोत्पादन को छोड़ पति-पत्नी तथा भाई-बहन के प्रेम में कितना अंतर है ? और प्रजोत्पादन के लिए जिन्दगी भर में तीन बार या चार बार ? किसान को अगर बोआई दूसरी बार करनी पड़े तो बड़ा बुरा लगता है। मानवीय वीर्य की कीमत क्या अनाज के दाने के बराबर भी नहीं ?

प्रश्न—शरीर-सम्बन्ध, शरीर-सम्पर्क क्या मनुष्य के शारीरिक मान-

सिक विकास के लिए, समाधान के लिए आवश्यक नहीं ?

उत्तर—शारीरिक संपर्क कोई आवश्यकता नहीं। प्रेम मानसिक भावना है। दूध पिलाना, रक्षा करना, आशीर्वाद देना, बोलना आदि बातों की जरूरत होगी । पर प्रेम दिखाने के लिए चुंबन की क्या आवश्यकता ? बालक उसे पसंद भी नहीं करता। रोग फैलाने का वह अच्छा साधन है। वास्तव में तो गाल केवल पोंछ या धो लेने से काम नहीं चलेगा। उसे डिस-इन्फेक्ट करना होगा।

प्रश्न—गीता में कहा है—**'धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ'**।

उत्तर—पर उसका आशय यही है कि प्रजोत्पादन के ही लिए स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध धर्म है। शंकराचार्य तो उसे भी नहीं मानते। धर्म के अविरुद्ध काम याने **'अशनपानादिकम्'** उन्होंने बताया है।

प्रश्न—तो फिर आदमी को स्थितप्रज्ञ ही बनना पड़ेगा।

उत्तर—नहीं तो, अर्जुन **'किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम्'** इस प्रकार क्यों पूछता ? स्थितप्रज्ञ का बर्ताव सहज रहता है, हमें प्रयत्न से उसे अपनाना चाहिए। उसका अनुसरण हमें प्रयत्नपूर्वक करना पड़ेगा।

संतानहेतुविरहित स्त्री-पुरुष-संगम व्यभिचार है। इसलिए बचपन से ही सबको संयम की शिक्षा देनी चाहिए। आज तो उल्टी बात हो रही है। सिनेमा क्या है ? भूभारावतरण के लिए परमेश्वर का अवतार ही है मानो। संयम के अभाव में लोग मर जायंगे। और क्या होगा ? दिल्ली की महिलाओं की मांग थी कि सिनेमा पर रोक लगाई जाय। इलाहाबाद म्युनिसिपालिटी ने सरकार की ओर प्रस्ताव भेजा था कि सिनेमा का दूसरा शो बंद किया जाय। पर सरकार ने उसे मंजूरी नहीं दी। समझ में नहीं आता कि उसने अपने पदों से इस्तीफा क्यों नहीं दिया ? जनमत का यह अनादर ? सत्याग्रह की जरूरत थी।

हावेरी के मार्ग पर,

१९-१२-५७

: ४१ :

बाबाजी के पिताजी

बंगाली संगीत संपन्न हुआ। यद्यपि हम उसकी सराहना करते हैं तो भी गानेवाले लोग बिल्कुल मामूली हैं। एक भी सुरीला कंठ नहीं। सब मिलकर ठीक गाते हैं सो भी बात नहीं। फिर भी न कुछ से कुछ बेहतर है। यह सोचकर उसे ठीक माना जाता है। संगीत के बाद मौन रहा और थोड़ी देर बाद विनोबा बोले—फिजिक्स और केमिस्ट्री पिताजी के विषय रहे। रंगाई के प्रयोग करना वह चाहते थे। उस विषय में वह अनुसंधान कर रहे थे। इस कारण उन्होंने अपनी पहली हैडक्लर्क की नौकरी से इस्तीफा दे डाला, क्योंकि उसमें तबादला होता था। अनुसंधान का यह काम एक स्थान पर स्थिर रहकर करना चाहिए था। इसीलिए एक नौकरी छोड़कर बड़ौदा में खानगी खाते में नौकरी स्वीकार की। प्रयोगार्थ वे कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़े रंगा करते थे। कभी-कभी मां को दिखाते थे। मां कहती—आपने सैकड़ों टुकड़े रंग डाले, पर मेरी एक साड़ी नहीं रंग सके। वह कहते—तुम्हारी एक साड़ी जग की रंगाई में रंग जायगी। यह प्रयोग है। सिद्ध हो गया तो दुनिया का काम बन जायगा। जब कहा जाता कि वह ये प्रयोग संस्था में करें तो कहते—प्रयोग सफल हुआ तो ठीक होगा, नहीं तो संस्था को लगेगा कि पैसा बरबाद हुआ। मैं यह नहीं चाहता, इसलिए अपनी जेब से खर्च करके प्रयोग कर रहा हूं। सफल हो जाय तो दुनिया का लाभ होगा, न हो जाय तो मेरी ही हानि होगी। मेरे पास जो थोड़ा-सा पैसा है, उसमें से अपने प्रयोगों के लिए खर्च कर रहा हूं।

मैं—पिताजी विज्ञान के उपासक थे। उनका सारा घर ही प्रयोग-शाला थी। समूचे जीवन की ओर वह वैज्ञानिक दृष्टि से देखा करते थे। मुझे वह बुद्ध-विचार-वाले लगते हैं।

विनोबा—पिताजी कथा-कीर्तन में जाते थे और हमें भी जाने को बताते।

चित्रकला, सिलाई, छपाई, रंगाई, बुनाई तथा आहार आदि के बारे

में विविध प्रयोग पिताजी ने किये। उन्हें बेचने के लिए हमें बाजार भी भेजा। वह निरंतर काम में मशगूल रहते। सन् १९१५ में मैं घर छोड़ चला गया और तीन वर्ष बाद याने १९१६ में माँ इन्फ्लुएंजा से चल बसी। उसके बाद बालकोबा और शिवाजी भी आश्रम में चले आये। तब वह अकेले रहे। उसके बाद उन्होंने संगीत की साधना शुरू की।

मैं—पर उसमें भी उनकी दृष्टि रंजन की अपेक्षा शास्त्र-सेवा की अधिक रही, ऐसा दिखाई पड़ता है।

विनोबा—हां, उन्होंने किसी मुसलमान सज्जन से संगीत की चीजें और बोल, जो शायद उसीके साथ समाप्त हो जाते, लिख लिये और संशोधन के बाद उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित किया।

मां की आखिरी प्रसूति में उसे तकलीफ हुई, इसलिए उसने पिताजी को सुझाया कि वह ब्रह्मचर्य का पालन करें, जो उन्होंने मान लिया। यह रही १९१३ की बात। उस वक्त उनकी उम्र ३९ साल की थी। तबसे १९४७ यानी उनकी मृत्यु तक वह वानप्रस्थ-वृत्ति से रहे। पिताजी के लिए मां के दिल में बड़ी आदर-भावना थी। हर भारतीय स्त्री अपने पति के बारे में प्रेमादर रखती ही है। पर पिताजी की उदारता के कारण मां उन्हें विशेष आदर की दृष्टि से देखती थी।

मैं—अपने लिए दूसरे को जरा-सी भी असुविधा न हो और दूसरे की यथाशक्ति याने शक्ति के अंत तक सेवा-सुविधा अपने हाथ होती रहे, यह था पिताजी का स्वभाव। मन-वचन-कर्म से परोपकारशीलता उनका विशेष गुण था। मैंने एक बार उन्हें लिखा था कि आश्रम-संगीत के लिए मराठी पद अपने जाने हुए भेज दें। उन्होंने बाजार में जाकर खोज-खोजकर मराठी पदों की पुस्तिकाएं भेज दी थीं। जब मगनवाड़ी आये थे तब अपनी जरूरत का सारा सामान अपने साथ ले आये थे।

विनोबा—जमनालालजी एक बार साबरमती आये थे। लौटते वक्त उन्होंने सोचा कि पिताजी से मिलकर चले जायं। वैसा उन्होंने लिख भी दिया। जमनालालजी का प्रबन्ध अच्छा हो, कोई असुविधा न हो, इसलिए एक मारवाड़ी के यहां जाकर समझ लिया कि उसका भोजन कैसा रहता है, कौन-कौन-सी चीजें आवश्यक हैं, कैसे परोसा जाता है, आदि। बाजार

जाकर चावल, गेहूं, दाल ले आये। ये चीजें उनके खाने में नहीं आती थीं। घर लाकर उन चीजों को साफ किया। गेहूं खुद ही पीस लिये, फुल्के बनाये, घी, पापड़ आदि सब करीने से रख दिये। तांगा लेकर जमनालालजी को स्टेशन से ले आये। उनका भोजन हुआ और विश्राम के बाद वह शाम की गाड़ी से वर्धा लौट आये। आने के बाद मुझसे मिले, तब उन्होंने कहा—ऐसा प्रेममय आदमी मैंने कभी नहीं देखा। यह कहते हुए उनकी आंखें डबडबा आईं। वह बोले—जानकीदेवी इससे अधिक क्या कर सकतीं। मुझे लगा कि मैं घर पर ही हूं। मैंने पूछा, "भोजन किसने पकाया?" तो वह बोले, "सबकुछ मैंने ही किया है। तब तो मैं बिल्कुल पिघल गया।"

पिताजी ने हमारे लिए उद्योग और मितव्ययिता से बीस हजार रुपये रख छोड़े थे। हमने उनसे एक कौड़ी की भी अपेक्षा नहीं रखी थी, तो भी न्याय-बुद्धि से वह रकम उन्होंने हमारे लिए रख छोड़ी और हमें लिखा कि उसे हम स्वीकार करें। पर हमने इन्कार किया, जिसका उन्हें बड़ा दुःख हुआ। आखिर उनकी मृत्यु के बाद बैंक में से वह रकम निकाल लेनी पड़ी और अब वह 'ग्रामसेवा मंडल' के पास पड़ी है। उनकी रंगाई-विषयक सैकड़ों रुपयों की किताबें पवनार में पड़ी हैं।

मां पिताजी को बड़े आदर की दृष्टि से देखती थी, तो भी उसका मुझपर ज्यादा विश्वास था। उसे एक लाख चावल गिनते हुए देखकर पिताजी बोले—"यह तुम क्या कर रही हो? एक तोला चावल ले लो। उसमें कितने चावल रहते हैं देखो और उस हिसाब से एक लाख चावल गिन लो। ऊपर और आधा तोला डाल दो, ताकि संख्या अधूरी न रहे। थोड़े दाने ज्यादा हो गये तो हर्ज क्या है?" इसपर वह कुछ नहीं बोली। वह कुछ जवाब नहीं दे सकीं। मेरे घर आने पर वह बोलीं, "विन्या, कहो न इसमें क्या राज है।" मैंने कहा, "वह तो गणित का सवाल नहीं, वह है भक्ति। संतों और ईश्वर के स्मरण के लिए वह काम किया जाता है।" रात को उसने पिताजी को बता दिया। मां हमारी भक्तिमती थी। बड़ी वैराग्यशालिनी भी थी।

क्याउणी के मार्ग पर,

२०-१२-५७

: ४२ :

कणिका—५

मन, बुद्धि और चित्त

मैंने पूछा—वेदान्त में मनोनाश शब्द पाया जाता है, पर योगशास्त्र में चित्तवृत्ति-निरोध। दोनों में कुछ दृष्टिभेद जरूर है, वह कौन-सा ?"

विनोबा—वेदान्त का मनोनाश वृत्तिनाश ही है। मन अन्तःकरण की एक वृत्ति मानी गई है।

मैं—चित्त-चतुष्टय शब्द-प्रयोग मिलता है। ये चार चित्त कौन-से ? चित्त मूल वस्तु है, जिसकी विविध शक्तियां मन, बुद्धि और अहंकार हैं। यह है मेरी राय।

विनोबा—वह तो ठीक है। कहीं अन्तःकरण पंचक का शब्द-प्रयोग पाया जाता है। पांच अन्तःकरण तथा पांच बाह्यकरण याने इंद्रियां, ऐसी कल्पना की जाती है। यहां अन्तःकरण मूल वस्तु और मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार उसकी विविध शक्तियां हैं। यहां मानना पड़ेगा कि एक ही मन के दो हिस्से—चित्त तथा मन—कल्पित हैं।

गीता में मन और बुद्धि को मिलकर ही चित्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

> **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।**
> **निवसिष्यसि मय्येव अतऊर्ध्वं न संशयः॥**
> **अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।**
> **अभ्यास-योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥**

यहां पहले श्लोक में 'मन, बुद्धि' दो अलग-अलग शब्द हैं और दूसरे में इन दोनों के बदले एक ही शब्द 'चित्त' रखा गया है।

... ...

संतों का अध्ययन

मैं—रामदास का अध्ययन वास्तव में अधिक रहना चाहिए, पर दास-बोध देखकर ऐसा नहीं लगता। तुकाराम का अध्ययन गंभीर मालूम

होता है।

विनोबा—नहीं। रामदास का अपने हाथ से लिखा हुआ रामायण उपलब्ध है। उनका अध्ययन गहरा था। तो भी उनका चेला कल्याण ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने 'माहंमाया' लिखा है। तुकाराम के अभंग आज शुद्ध जान पड़ते हैं। पर जगनाड़े की बहियां देखने पर मालूम होता है कि भाषा कितनी अशुद्ध है। फिर भी तुकाराम ने गीता, भागवत, खासकर एकादश स्कंध, एकनाथी भागवत तथा ज्ञानेश्वरी के पारायण किये थे। नामदेव, ज्ञानदेव और एकनाथ के अभंग उसने कंठस्थ किये थे। कबीर भी उसे ज्ञात था। अपने हाथ की लिखी गीता उसने अपने दामाद को भेंट दी थी।

मैं—न.र. फाटकजी कहते हैं कि ज्ञानदेव भी संस्कृत की अच्छी जानकारी नहीं रखते थे।

विनोबा—ज्ञानदेव का अध्ययन गहरा था। उपनिषद, योगशास्त्र, शंकर, रामानुज, योगवासिष्ठ, भारत आदि ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने किया था। गणेशजी के रूपक में जिन ग्रंथों का निर्देश उन्होंने किया है, उनका अध्ययन उन्होंने जरूर किया होगा।

मैं—'वार्तिक' क्या है? "**बौद्धमत-संकेतु वार्तिकांचा**" इस वचन में उसका उल्लेख है।

विनोबा—वार्तिक से वृत्तिकार सुरेश्वराचार्य आदि द्वारा लिखित बौद्धमत-खंडनात्मक शांकर-भाष्य के टीका-ग्रंथ निर्दिष्ट हैं।

... ...

पंचीकरण

विनोबा—पंचदशी आदि ग्रंथों में जो पंचीकरण-प्रक्रिया पाई जाती है, जिसका विवरण रामदास ने किया है, वह वेदान्ती केमिस्ट्री ही है। उसे मैं बहुत महत्व नहीं देता। फिर भी तिलक ने 'गीतारहस्य' में कहा है कि यह प्रक्रिया महत्व की है। पर उसमें जो पांच महाभूत (पंचतत्व) हैं, उन्हें महत्वपूर्ण समझने का कारण नहीं, क्योंकि मूलतत्व पांच ही नहीं हैं, विज्ञान की बदौलत उनकी संख्या अस्सी-नब्बे तक पहुंच गई है (आज यह संख्या तिरानवे है। ९३वीं धारा की शासन-प्रणाली से मैंने यह संख्या याद की है)। फिर भी तिलक का यह मंतव्य गलत है। जबतक पांच

इंद्रियां हैं, तबतक पंच महाभूतों से परे ज्ञान नहीं जा सकता। वह विश्लेषण अबाध्य ही है।

दो परंपराएं—सन्त और भक्त

विनोबा—भारत में दो परम्पराएं हैं, एक सन्त-परम्परा और दूसरी भक्त-परम्परा। जो निर्गुणिया कहलाते हैं वे सन्त हैं। कबीर, नानक, दादू, आदि सन्त-परम्परावाले हैं, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि भक्त-परम्परा में हैं। सन्त-परम्परा का सूत्रपात बौद्धों के वज्रयान पंथ तथा गोरखनाथ से होता है। वे जाति-पांति के खिलाफ क्रांतिकारी विचारवाले थे। बौद्ध आक्रमण की प्रतिक्रिया के रूप में भक्त-परम्परा का आविर्भाव हुआ। उसका उद्‌भव द्रविड़ प्रदेश में हुआ। रामानुजाचार्य के पूर्ववर्ती तमिल शैव और वैष्णव ग्रंथों से उसकी परम्परा प्रारम्भ होती है। द्रविड़ प्रदेश से कर्नाटक, कर्नाटक से महाराष्ट्र और वहां से उत्तर भारत इस प्रकार भक्ति-संप्रदाय का प्रसार हुआ है। सब आचार्य द्राविड़ हैं। उन्होंने काशीतक उसे पहुंचाया, जहां से समूचे भारत में उसका प्रचार-प्रसार हुआ। पुराने तमिल ग्रन्थवचनों के आधार पर तथा पुराने वैष्णव भक्ताचार्यों को आधार-भूत मानकर रामानुजाचार्य ने अपने भाष्यों की रचना संस्कृत में की है।

... ...

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

मैं—गांधीजी द्वारा पुरस्कृत ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त आध्यात्मिक है या एक व्यावहारिक युक्ति मात्र ?"

विनोबा—मैं उसे आध्यात्मिक मानता हूं। वह व्यावहारिक युक्ति नहीं है। येलवाल में जो नेतागण उपस्थित थे, उन्हें विद्यार्थियों की भांति मैंने यह विषय समझा दिया। ट्रस्टीशिप की दो कसौटियां मैंने उन्हें बताईं। (१) पाल्य की चिंता अपने से भी अधिक मात्रा में करना और (२) जल्द-से-जल्द सब अधिकार उसके सुपुर्द कर देना। इस दुहरी कसौटी पर आज के शासन-यंत्र और धनिकशाही को कसकर देखिये तो यह दिखाई देगा कि उनकी ट्रस्टीशिप की हिमायत या दावा कितना खोखला है।

व्यायगी : प्रातःकाल घूमने के समय,

२१-१२-५७

: ४३ :

सम्मेलन और क्रांति

ब्याउगी में दो दिन ठहरने के बाद जब पदयात्रा फिर से चल पड़ी तब हमारे दल में रावसाहब पटवर्धन, गोविन्दरावजी देशपांडे, बाबूलालजी गांधी, डोनाल्ड ग्रूम, आर्थर गोल्ड (अमरीकी ज्यू कुमार), अमरीकी दम्पती स्टॅनले वॉलपर्ट व डोरोथी वॉलपर्ट, वल्लभस्वामी तथा बंगाली लोग थे। फ्रीदा हाउसवेल दास, जो मूल में जर्मन थी, अमरीका में बसीं और अब भारतीय बनी एक वृद्धा हैं, हमारे साथ कल थीं, पर ब्याउगी से वह लौट गई।

प्रारम्भ बंगाली गीतों से हुआ। विनोबा वल्लभस्वामी के साथ बोल रहे थे। उन्हें अपना नवविचार बतला रहे थे। गंतव्य ग्राम चार ही मील दूर था, सो सिडेनूर पहुंचने के पहले दो फर्लांग के फासले पर एक खेत में हम बैठ गये। सूर्योपस्थान के बाद विनोबा रावसाहब से बोले—

"कैसा है नवविचार, रावसाहब? बोलो, वल्लभ।"

वल्लभस्वामी—सम्मेलन व्यक्तिनिष्ठ न रहे। उसकी आवश्यकता भी अब नहीं रही। क्रान्ति के दर्शन से भी वह मेल नहीं खाता। देश में कहीं भी सम्मेलन मनाया जा सकता है। जरूरत नहीं कि विनोबा वहां जायं। तुर्की में तालीमी संघ का सम्मेलन सम्पन्न हुआ। विनोबा ने अपना सन्देश उसके लिए भेजा। सम्मेलन सफल हुआ। ऐसा होना चाहिए। अप्पासाहब के कार्यक्षेत्र रत्नागिरी में सम्मेलन हो तो अच्छा होगा। पर अप्पासाहब राजी नहीं हुए।

देशपांडे—अप्पासाहब ने लिखा है कि रत्नागिरी में सम्मेलन हो सकता है।

विनोबा—मुझे केरल जाने की प्रेरणा मिल रही है। वहां केलप्पनजी स्टेटफ्री सोसाइटी बनाने का प्रयास कर रहे हैं। राजम्मा ने लिखा है—आपके लड़की नहीं है। क्रांति बुला रही है। चार महीने केरल में रहिये। आगे चलकर बरसात में तामिलनाड चले जायं। केरल में सम्मेलन की

आयोजना फिर से करने में कार्य में बाधा होगी। केरल से आंध्र में कड़प्पा भी जाया जा सकता है।

क्रांति का मेरा एक गणित है। शासनमुक्त समाज बनाना है। उसके आगे और सवाल ठहर नहीं सकते। व्यापक विचार दो ढंग का हो सकता है। एक, पण्डित नेहरू की भांति दुनिया से सम्पर्क रखकर; दूसरा, मेरी भांति दुनिया से अलिप्त रहकर। दोनों दृष्टियों से विचार करने से संकुचित धारणा नष्ट हो जाती है और कांग्रेस में जो अंदरूनी छोटे-छोटे झगड़े हो रहे हैं, उनकी क्षुद्रता ध्यान में आ जाती है। क्रांति के लिए मुक्त चिन्तन की जरूरत है। इसलिए सम्मेलन का गठबन्धन मुझसे बनाये रखने की आवश्यकता नहीं है।

कर्नाटक में तीन महीने बिताये। उसके पहले तीन हजार ग्रामदान मिले थे, अब और तीनसौ पचास मिले हैं। हजारों-लाखों ग्रामदान होना बाकी है। एक पुराना वचन 'तुम्हारी जमीन छीन ली जायगी' बंग ने उद्धृत किया है, पर इससे क्या ग्रामदान मिल सकेंगे ? इसका मतलब होगा उन्हें ग्रामदान से परावृत करना। आज विचार आगे बढ़ चुका है। कर्नाटक में सम्मेलन की बातें हो रही हैं। उसके लिए दौड़ेंगे चिन्नय्या की तरफ, इसकी तरफ या उसकी तरफ !

वल्लभस्वामी---पर हम मांगते क्या हैं ? ऐसी बड़ी यात्राओं के स्थान पर प्रबन्ध करना उन्हींका काम है।

विनोबा---पर उस काम में कौन अगुआ बनते हैं, कौन प्रयास करते हैं ? वे, जिनका प्रभाव बढ़ना खतरनाक है। वे सकाम हैं और बुरी तरह सकाम हैं। किसी-किसीकी सकामता अच्छी भी होती है।

गोविन्दराव---क्रांति भी एक व्यक्ति से निगड़ित हो सकती है।

विनोबा---क्रांति की दृष्टि से भी यह अच्छा होगा कि मुझे कहीं न जाना पड़े। देश के कोने में सम्मेलन सम्पन्न हुआ तो अस्सी हजार लोग इकट्ठे हुए। पवनार जैसे केन्द्रवर्ती स्थान में लाखों लोग आयेंगे। उसमें कुछ नियमन चाहिए। अबतक यह ठीक रहा। गांधीजी के पश्चात यह डर लगता था कि यह सब कैसे टिक पायेगा। वह डर अब नहीं रहा। शिवरामपल्ली-सम्मेलन के वक्त शंकरराव बोले---"आप अगर आना नहीं

चाहते तो सम्मेलन व्यर्थ होगा। उस वक्त उनका कहना मैंने माना। पर अब वैसी स्थिति नहीं रही। अब गोविंदराव कह सकते हैं—"आप अपना काम कीजिये। एस. एम. अपना काम करें। मैं अपना काम करूंगा।" इसके पहले यह कहने की हिम्मत उनमें थी नहीं। अब शक्ति प्रकट हो चुकी है। जवाहरलालजी, जयप्रकाशजी उसके बारे में विचार करने लगे हैं।

क्रांति के नये-नये मार्ग ढूंढ़ निकालने चाहिए। संपत्तिदान का कार्य ठीक नहीं चल पा रहा है। संपत्ति की प्रतिष्ठा टूटनी चाहिए।

रावसाहब—सम्मेलन को आप वन्धन रूप क्यों मान रहे हैं?

विनोबा—कार्यक्रम निश्चित करना पड़ता है, सात-आठ महीने पहले। बरसात आदि का भी विचार करना पड़ता है। दक्षिण-उत्तर के मार्गों के अलावा एक ऊर्ध्व मार्ग भी है। उसमें कोई विघ्न-बाधा नहीं।

डोनाल्ड कहता है कि यह वस्तु शक्तिशाली है।

चेरियन—आपका यह विचार मुझे ठीक लगता है। ग्रामदान मिल रहे हैं, पर निर्माण-कार्य नहीं हो रहा है। आप मुक्त रूप घूमें। क्रांति की जिम्मेदारी आपकी है। उस दृष्टि से आप मुक्त विहार कर सकें तो अच्छा होगा।

विनोबा—कांटिग्युअस एरिया—सघन क्षेत्र—मिलने पर निर्माण-कार्य की अनुमति मैं दे दूंगा। पर दो-चार ग्राम यहां, तो दो-चार वहां हैं, ऐसी हालत में इजाजत नहीं दी जा सकेगी।

चेरियन—कुछ दिन एक स्थान पर रहा जाय तो कुछ दिन घूमने में व्यतीत किये जायं।

विनोबा—एक जगह स्थिर रहने की बात ठीक नहीं। सम्मेलन के लिए कुछ नियम बनाये जायं। उदाहरण के लिए, पांचसौ मील के भीतर ट्रेन से काम न लिया जाय। सम्मेलन के अधिवेशन में ठीक चार घंटे मेहनत का काम हो, आदि। ऐसा कुछ नियमन आवश्यक प्रतीत होता है।

सम्मेलन की आवश्यकता है सही, पर उसका मेरे साथ गठबन्धन क्यों रहे? मेरी अनुपस्थिति में अगर सम्मेलन असफल होगा तो यह हो जाय कि **'आपुले मरण पाहिलें म्यां डोळां'** अपनी मौत मैंने अपनी आंखों देखी। नेहरूजी के बाद कौन? कांग्रेस बिना नेहरू के बराबर क्या? यह प्रश्न पूछा

जाता है।

चेरियन—उसका उत्तर 'शून्य' नहीं, 'ऋणयुक्त शून्य' कहना चाहिए।

मैं—क्यों ? ग्रामदानी गांवों में नेहरू पैदा होंगे। अपने-अपने गांव का प्रबन्ध कैसा किया जाय, इसका ज्ञान उन्हें प्राप्त होगा।

विनोबा—ठीक है, ऐसा हो रहा है।

गोविंदराव—यह भी हो सकता है कि विनोबा ने क्रांति का ठेका लिया है, हमारे लिए सोच-विचार करने की आवश्यकता ही नहीं।

विनोबा—उसका मतलब यह कि विनोबा हर साल सम्मेलन में उपस्थित रहें। चेरियन बीस महीने देश भर में घूम चुका। यह हिम्मत न करता तो ? उसके साथ चर्चा करने नहीं बैठा मैं। उसे जाने दिया। केवल चर्चा से वह पस्तहिम्मत हो जाता। उसके घूमने से देश का लाभ हुआ और उसकी हिम्मत बढ़ गई।

कर्नाटक के ग्यारह जिलों में घुमक्कड़ी की। कुछ फल नहीं निकला। बाबा के जाने पर भी विफलता ही मिली। बाबा को अगर कुछ अहंता की बाधा हुई हो तो उसके चूर-चूर हो जाने की नौबत आ गई है।

तामिलनाड में शुरू-शुरू में यही हुआ। केरल में भी यही हुआ। बाद में कसर निकल आई। केरल में केलप्पन मिले। शंकराचार्य की प्रेरणा है वह।

सिडेनूर की राह पर,
२२-१२-५७

: ४४ :

कणिका—६

सब ग्रानंदमय

१. 'सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकम्' विचार ठीक नहीं। सब ग्रानन्दमय है, यह भाव चाहिए। कई लोगों का यह कहना है। मैं उनका यह कहना जरूर मानूंगा, पर उनको चाहिए कि वे पहले मरना छोड़ दें।

... ...

एस्केपिस्ट

२. जो सांसारिक कर्म तथा प्रापंचिक उद्योग से निवृत्त हो जाते हैं, एस्केपिस्ट कहकर उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है। मैं एस्केपिस्ट हूं। घर में ग्राग लग गई है ग्रौर कहते हैं कि भागो मत। क्या उसमें जलकर मरना है?

... ...

युद्ध ग्रौर शांति-सेना : परिणाम

३. शांति-सेना का परिणाम यह होगा कि जो मरने लायक हैं वे मरेंगे (ग्रर्थात् वे जो सत्य ग्रौर ग्रहिंसा का मार्ग ग्रपनाना नहीं चाहते)। पर युद्ध का परिणाम क्या होता है? जो सबसे लायक होते हैं वे ही मर जाते हैं।

... ...

क्लीन बम

४. एक ग्रमरीकी मेरे पास ग्राया था। वह बोला—ग्रमरीका ग्रब क्लीन बम बना रहा है। क्लीन बम वह है जो केवल ग्रपने लक्ष्य का ही विनाश करेगा, पर हवा दूषित करना, ग्रौरों को बाधा पहुंचाना ग्रादि नहीं करेगा। मैं बोला—सैकड़ों-हजारों मानवों को पंगु बना दे, जिन्हें खाने को तो चाहिए, पर वैसे भूमि के भाररूप हों, ऐसा बम 'क्लीन' बम नहीं। बम ऐसा हो कि उसके ग्राघात से कोई भी जिन्दा न रह सके। वही होगा क्लीन बम। पंगुग्रों की पैदाइश करनेवाला 'क्लीन बम' कैसा?

ग्रामदानी गांवों में शांति सैनिक

५. हर ग्रामदानी गांव में शांतिसेना की उपस्थिति आवश्यक है। एक लाख आबादी के लिए शांति सैनिकों की संख्या बीस रहे। हरेक के साथ वे परिचय प्राप्त करें। वे इस कदर परिचित हों कि कोई भी निःसंकोच-भाव से उन्हें अपना काम सौंप दे। सबके दिल में उनके बारे में अपनापन महसूस हो।

देहात में ऐसे लोग होते हैं, जो झगड़े पैदा करते हैं। उन्हें तथा झगड़े-वालों को समझाने शांति सैनिक खुद जायं। नारद जैसे कंस के पास जाते और कृष्ण के पास भी, वैसे ही ये सबके पास जायं। शांति की शक्ति बढ़ाते रहना उनका काम है।

तुम लोगों को मेरी अपेक्षा अधिक तपस्या करनी पड़ेगी। लोगों की धारणा यह होगी कि तुम लोग पी. एस. पी. वाले हो। मेरे बारे में यह बात नहीं। मुझे वे सच्चा आदमी मानेंगे। इतनी योग्यता प्राप्त करने के लिए तुम्हें बड़ी तपस्या करनी पड़ेगी।

... ...

प्रभु का दरबार लगा हुआ है

६. तुलसीरामायण का उत्तरकांड वाल्मीकि के उत्तरकांड से भिन्न है। रामचन्द्रजी लोगों के साथ अयोध्या से बाहर बगीचे में जाकर वहां उन्हें उपदेश सुनाते बैठे हैं। तुलसीदास ने अपने ग्रंथ की समाप्ति इस प्रकार की है। मतलब कि रामचन्द्रजी यहां इस दुनिया में ज्ञानोपदेश करते हुए विराजमान हैं, उनका दरबार लगा हुआ है। यह कल्पना उसमें है।

सिडेनूर,
२२-१२-५७

: ४५ :

कणिका—७

कांचन-मुक्ति का प्रयोग

१. मैं—कांचन-मुक्ति का विचार लोग ठीक समझ नहीं पाये हैं। उसके बिना गांव सुखी नहीं हो सकते।

विनोबा—ठीक ही है। ग्राम-सेवा-मंडल यह प्रयोग करे। वेतन-श्रेणियां हटाई जायं। हरेक को पांच रुपये फुटकर खर्च के लिए दिये जायं। उत्पादन अगर कम हो तो उसे बढ़ाया जाय। चर्खा आदि की कीमत जरा बढ़ाने में कोई हर्ज नहीं। वे लोग बुद्धिमान हैं। उनके जैसी शक्ति अन्यत्र नहीं दिखाई देती।

रावसाहब—रत्नागिरी जिले में श्री अप्पासाहब यह प्रयोग चला रहे हैं, पर सफलता नहीं मिल रही है। पुराने लोग छोड़कर जा रहे हैं।

विनोबा—इस उम्र में अप्पासाहब का यह प्रयोग आसक्ति कहलाने लायक है। उनको चाहिए, वह मुक्त विचार-प्रचार करें। मैं गोपुरी (वर्धा) में इस प्रयोग के लिए तीन महीने बिता चुका हूं। कठिनाई महसूस होती थी। साम्ययोग का प्रयोग चलाने को लोग तैयार थे, बशर्ते कि मैं वहां रह जाऊं, पर यह बहुत बड़ी कीमत वे मांग रहे थे। मैंने स्वीकृति नहीं दी। प्रयोग सफल होने पर भी खतरा था। लोग कहते कि प्रयोग के लिए विनोबा चाहिए। अगर असफल होता तो स्पष्ट ही खतरा था। लोगों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया होता कि विनोबा जैसों के होते हुए भी प्रयोग सफल हो नहीं पाया तो प्रयोग करना ही बेकार है। पर मैंने वह खतरा नहीं स्वीकार किया। मैं क्यों समझ लूं कि ये ही लोग मेरे हैं? वह गलत है। मेरा विचार कोई भी अपनायेगा और प्रयोग करेगा। एक जगह सिद्धि नहीं मिली तो क्या और जगह नहीं मिलेगी? ऐसा मानना ठीक नहीं। 'पवनार का ग्राम-दान बिना प्राप्त किये आगे बढ़ने का नाम नहीं लूंगा' कहकर मैं यहीं रुक जाता तो? क्रांति रुक जाती। वह आसक्ति हो जाती। उत्साह चाहिए, पर आसक्ति न रहे। मुक्त विचार-प्रचार करना चाहिए।

अकिंचन पुरुष

२. जिनमें लोक-सेवा के अलावा दूसरी कामना नहीं, जो पूर्णरूप से निष्कांचन हैं, निरिच्छ हैं, अकिंचन हैं, ऐसे दो सज्जन मेरे सामने हैं—एक मनोहर दिवाण तथा दूसरे दादासाहब पंडित। मनोहरजी प्रवृत्ति पर हैं तो दादासाहब निवृत्ति की ओर अधिक झुके हुए।

... ...

शिवाजी का पुनरवतार

३. तिलक से एक बार पूछा गया, "क्या महाराष्ट्र में फिर से शिवाजी का अवतार होगा ?"

उन्होंने बताया—नहीं। जिस महाराष्ट्र में शिवाजी अवतीर्ण हुए, वह निरभिमान था। जहां लोग अभिमान से मुक्त हैं, पिछड़े हुए हैं, वहीं अवतार का संभव रहता है।

ईसा के पास कौन लोग थे ? मछुए ! पॉल से पहले एक भी शिक्षित ईसाई नहीं था। ईसा ने उन्हें बताया—आओ, तुम्हें मैं आदमी पकड़नेवाले मछुए बनाता हूं !

... ...

अप्पा और रत्नागिरी जिला

४. अपने जिले का अभिमान अनुभव करनेवाला अप्पासाहब जैसा और कौन है ? यदि रत्नागिरी जिले को ग्रामदान-कार्य के लिए आप चुनेंगे तो ग्रामराज्य के लिए एक अधिष्ठाता देवता आप मुफ्त में पा जायंगे।

और रत्नागिरी को आप जीत लें तो महाराष्ट्र के दिमाग को जीत लिया समझिये।

रावसाहब—रत्नागिरी जिले के लोकमत पर बम्बई में रहनेवाले रत्नागिरीवालों का बड़ा प्रभाव है। चुनाव के वक्त उन्होंने अपने-अपने घरवालों को बता रखा था कि अगर वे कांग्रेस को मतदान करें तो पैसा नहीं भेजा जायगा।

इंग्लैंड में हिन्दी पढ़ाइये

१. रूस में हिन्दी सेकंड लंग्वेज के तौर पर कई पाठशालाओं में लाजिमी कर दी गई है। इंग्लैंड में भी हफ्ते में दो घंटे भी क्यों न हो, अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाय, स्नेह की निशानी के रूप में। फल यह होगा कि भारत में जो वामपक्षीय चिल्ला रहे हैं कि भारत कॉमनवेल्थ से सम्बन्ध-विच्छेद कर दे, उसमें रुकावट आ जायगी। भारत और इंग्लैंड के बीच स्नेह-सम्बन्ध की वृद्धि होगी।

हिन्दुस्तान और इंग्लैंड

२. हिन्दुस्तान और इंग्लैंड दो ऐसे देश हैं कि जो मेरी यूनिलैटरल निःशस्त्रीकरण की कल्पना को मूर्त रूप दे सकेंगे, हिन्दुस्तान अपनी आध्यात्मिकता के बल पर और इंग्लैंड अपने वैज्ञानिक प्रभाव के कारण।

विनोबा से रोष क्यों

३. कई गुजराती लोगों का कहना है कि विनोबा कम्युनिस्टों को बढ़ावा दे रहे हैं। गांधीजी अगर होते तो वे ऐसा कभी न करते। हम करते क्या हैं? जो अच्छा काम करते हैं, उन्हें आशीर्वाद देते हैं। वह आशीर्वाद न व्यक्ति के लिए है, न पक्ष के लिए, वह उस सत्कर्म के लिए होता है।

पर कम्युनिस्टों को चुनाव में खड़े रहने की इजाजत सरकार ने ही दी, उन्हें सरकार बनाने दी उनके हाथ बजट सुपुर्द किया और राजेन्द्रबाबू ने उन्हें अच्छे काम के लिए प्रशस्तिपत्र भी दिया है।

वे विनोबा पर गुस्सा इसलिए करते हैं कि विनोबा से उन्हें प्रेम है। उन्होंने उसकी एक मूर्ति बना ली है, जिसकी नाक उन्हें ठीक दिखाई नहीं देती। इस कारण वे चिढ़ जाते हैं। गुजरात में यह चिढ़ अधिक मात्रा में है। उन्होंने विनोबा को अपना मान लिया है न।

... ...

गांधी-विचार कैसा!

४. गांधी-विचार क्या चीज़ है? मुझे दो ही प्रकार ज्ञात हैं—सत् और असत्। इन्हीं दो विशेषणों को मैं पर्याप्त मानता हूं।

मेरा मुक्तसंकल्प होना

५. मुक्तसंकल्प होकर मैं महाराष्ट्र में आ रहा हूं। इसका आशय यह है कि महाराष्ट्रवाले कृतसंकल्प बनें, अन्यथा वह एक मुक्तसंकल्पों का जमघट बन जायगा।

चिन्नमुलगुंद के मार्ग पर,
२३-१२-५७

: ४६ :

पाठशाला और शिक्षा

बृहदारण्यकोपनिषद् में हृदय की आकाश से तुलना की है। विशाल हृदय क्लास में, कमरे में बैठकर नहीं बनेगा।

उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी समाहिते। विद्यु‌त्-नक्षत्राणि च।
यच्च अस्ति यच्च नास्ति तदस्मिन् समाहितम्।

ऐसे स्थान पर बैठकर स्वाध्याय किया जाय।

संस्कृत में 'घर' के लिए 'दम' शब्द है। इसीसे मॅडम, डोमिसाइल आदि शब्द निकले हैं। 'दम' से मतलब है दमनसाधन से। वह शब्द सुझाता है कि घर में रहनेवालों को चाहिए कि वे अपना दमन कर लें। उल्टे वन से मतलब है आनन्द लूटने से (एंजायमेंट से)।

हम एक अंग्रेजी कविता सीखते थे :

Home, home, sweet home,
There is nothing like home

इससे यह समझते थे कि घर नाम की कोई चीज है नहीं।

रावसाहब—लायब्रेरी में आप कपड़े उतारकर बैठ जाते थे न ?

विनोबा—मुझे प्रिन्सिपल के पास ले जाया गया। मैंने कहा—इसीको भारतीय संस्कृति कहते हैं।

आकाश के नीचे बुद्धि का अच्छा विकास होता है।

चेरियन—बापू हमेशा कहा करते थे कि खुले में रहो।

अध्ययन की बात छिड़ जाने पर ग्रन्थालय का जिक्र किया जाता है। पर वह गलत है। हमें सृष्टि के साथ तन्मय होना चाहिए। पुस्तकें उसमें रुकावट डालती हैं।

'पलालमिव धान्यार्थी'—मनुष्य में वह शक्ति आनी चाहिए, जिससे वह ग्रन्थों में से सार ग्रहण कर सके। जो उसमें थोथा है, फूस है, उसे उड़ा देने की क्षमता मनुष्य पा जाय।

भूदान-कार्यकर्ता के लिए यह नियम बनाया जाय कि वह हर रोज सबेरे इस प्रकार सूर्योदय के समय खुले आकाश के नीचे खेत में बैठकर अध्ययन करे।

पाठशाला में स्थिति भयानक रहती है। खिड़कियां इतनी ऊंचाई पर रहती हैं कि बाहर की चीजें न देखी जा सकें। दीवार में काला रंग लगा रखते हैं, मानो वह जेलखाना हो। पाखाने में इस प्रकार का काला रंग रहता है।

रावसाहब—शांतिनिकेतन में रवीन्द्रनाथ ने खुले आकाश के नीचे वृक्षों की घनी छाया में वर्ग रखने की प्रथा शुरू की थी सही, पर अब वहां उसका क्या बाकी रहा है? अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा वहां का काम बिगड़ गया है। वह फैशन-यूनिवर्सिटी बन गई है और वहां पंडितजी जाया करते हैं। वह वहां हरगिज न जायं।

विनोबा—शहरों में ज्ञानवानों के जो कॉन्सेंट्रेशन कैम्प बन गये हैं, उनसे उन्हें खदेड़ बाहर कर देना चाहिए। वे देहातों में फैल जायं। आज की शिक्षा-पद्धति की असफलता के कारण खोज लेने चाहिए। हमारी तरफ संस्थाएं जल्द ही डूबने को होती हैं। पर उधर यूरोप में तीनसौ बरस से यूनिवर्सिटियां चल रही हैं और आगे भी बनी रहेंगी।

हमारी शिक्षा-प्रणाली भिन्न है। उसे आश्रमपद्धति कहते हैं। क्या है उसका रहस्य? उसका रहस्य यही था कि लोगों के स्तर की अपेक्षा हमारा स्तर उच्च नहीं हुआ करता। आज क्या हालत है? लोग घर-घर में हर रोज मांसाशन नहीं करते, पर अलीगढ़ विद्यापीठ में हर रोज दस तोले मांस हर विद्यार्थी को मिलना ही चाहिए, मानो वह रातिब ही ठहरा। मांसा-

शन नहीं करना चाहिए, यह बात तो दूर रही, लेकिन वह हर रोज खाया जाय, यह दैनिक व्यवहार बन बैठा। इसके कारण संयम, भक्ति, ज्ञान की वृद्धि रुक जायगी।

एक तो यह बात है कि हमारा आदर्श कृत्रिम है, दूसरे अंग्रेजी भाषा का बोझ ढोना पड़ता है। हमारे सारे विद्यार्थी उस बोझ के नीचे दब-से गये हैं। उनकी बुद्धि कुंठित हो गई है, पराक्रम मर चुका है। उधर पिट २१ साल की उम्र में प्रधानमन्त्री बन गया। इधर क्या यह बात पहले नहीं थी ? माधव-राव पेशवा २१वें साल में गद्दी पर बैठा, और बिखरा हुआ राज्य दस साल में सुधार दिया। दस साल में मराठा शक्ति तैयार कर दी। आज हम उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते। आज तो २१वें साल में लड़का सीखता ही रहता है। 'गुलीवर्स ट्रैवल्स' पढ़ता है। उधर इंग्लैंड में दस-बारह साल के लड़के वह पुस्तक पढ़ते हैं। 'विकार ऑव वेकफील्ड' और रोबिन्सन क्रूसो! उसमें क्या है ? सोलहवें साल में ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी की रचना की। भाऊसाहब पेशवा ने लड़ाइयां जीतीं। अंग्रेजी के बोझ से हमारे बच्चे हत-वीर्य हो गये हैं। अंग्रेजी के कारण कितना शक्तिक्षय होता है देखना हो तो इंग्लैंड में सब विषय तमिल के माध्यम से पढ़ाइये तो ध्यान में आ जायगा। अंग्रेजी की पढ़ाई भी अंग्रेजी द्वारा हो! यह कैसी जबरदस्ती है! हमारे समय में जब वर्ग में जाना होता था, तब हिम्मत न होती थी कि हमारी जाति के हमारी ही भाषा बोलनेवाले अध्यापक से मराठी में बोलें। 'May I come in, sir ?'[1] कहना पड़ता था। इसके बावजूद हिन्दुस्तान के लोगों ने काफी सत्त्व दिखा दिया, ऐसा कहना पड़ेगा।

एक दिन हमारे प्रिन्सिपलसाहब 'इनडिस्पोज्ड'[2] थे। वह कालेज नहीं आये। तब मेरे वर्ग के विद्यार्थियों ने मुझसे वर्ग पढ़ाने को कहा। मैंने उन्हें बताया—देखो हमारा अश्व है न, वह अंग्रेजी में Ass (गधा) बन जाता है, और हमारा 'कुत्ता' Cat (बिल्ली) बन जाता है। सब हँस पड़े। मैंने उन्हें बताया कि आज बारहसौ की तनख्वाह का मैंने काम किया! साहब क्या पढ़ाता है ? 'Light Foot, White Foot !' क्या यह कविता है ?

---

१ क्या मैं अंदर आ सकता हूं ? २ अस्वस्थ

उसकी वह मातृभाषा है और वह कविता छोटे बच्चों के लिए लिखी हुई है। उसके दिमाग को जरा भी तकलीफ सहनी पड़ती है ? अंग्रेजी के इस बोझ की बदौलत तत्त्वज्ञान हासिल नहीं होता, तत्त्वज्ञानात्मक भूमिका नहीं बन पाती।

चेरियन—केरल का एक व्यक्ति इंग्लैंड से पढ़कर आया। वह कहता था—"क्या कहूं, इंग्लैंड में सब सुशिक्षित हैं, सब अंग्रेजी बोलते हैं। मैं एम. ए. उत्तीर्ण होकर भी उनके नाई के माफिक भी अंग्रेजी नहीं बोल सकता।"

सकामता का खतरा

विनोबा—धर्म को अधर्म से उतना खतरा नहीं, जितना सकामता से। इसलिए हमें चाहिए कि हम सद्भावनावान् लोगों को ही इकट्ठा कर लें। सज्जनों का संग्रह कर लें। वही सच्ची बुनियाद होगी। वही पक्की नींव है हमारे कार्य की। वजनदार प्रभाववाले लोगों की खोज में न रहें, उनके पीछे न पड़ें। वे मतलब लेकर आया करते हैं। सकाम आदमी भेदिया बन जाता है। सज्जन आदमी ढूंढ़ने में समय लगेगा, पर वे ही पक्की बुनियाद हैं। चालीस साल पहले हम मिले थे। उन दिनों इस्लामपुर में श्री गोड़बोले रहते थे। उनके साथ मैंने तुकाराम के अभंगों के विषय में कुछ चर्चा की थी। चालीस साल बाद अब उन्होंने पत्र भेजा है और अपने सुधारमण्डल के लिए शुभ कामनाओं की मांग की है।

कोड़ के मार्ग पर,
२४-१२-५७

: ४७ :

निरुपाधिक महाराष्ट्र-प्रवेश

शास्त्रकारों का असर

विनोबा—महाराष्ट्र के लोग जाना चाहते थे। उन्हें मैंने रोक रखा। मैं उनके साथ बोलना भी चाहता था। मैं कह रहा हूं कि निरुपाधिक होकर मैं महाराष्ट्र-प्रवेश चाहता हूं। यह विचार तो नया नहीं है। बीस बरस पहले जब पवनार गया, तबसे निरुपाधिक बना हूं। फिर भी बाह्य उपाधि को भी टालना चाहता हूं। जितनी टल जायगी उतना ही अच्छा। शास्त्रकारों ने वैसा कहा है। शास्त्रकारों का यह असर है। बाह्य उपाधि जिस कदर कम होती जायगी उस कदर विचार की गहराई, व्यापकता और शक्ति बढ़ जायगी। उपाधित्याग दृष्ट था ही। काल की दृष्टि से सन् ५७ समाप्त होने को है, ५८ के प्रारम्भ में, और देश की दृष्टि से महाराष्ट्र में उपाधित्याग करने की सोच रहा हूं। दो योग इकट्ठे आ गये हैं, कपिलाषष्ठी का योग ही इसे समझा जाय।

अन्तर्निष्ठा ही प्रमाणभूत

मन में तो विचार है सबकुछ छोड़ देने का। शरीर भी एक उपाधि ही है और भाषा भी। दोनों का त्याग करने पर भी काम पूरा नहीं होता। मौन भी उपाधि ही है। मेहरबाबा कई सालों से मौन साधे बैठे हैं। वर्णमाला का फलक लेकर उसपर संकेत उंगलियों से करते हैं। यह भी उपाधि ही है। बोलने या न बोलने पर मेरा भरोसा नहीं। अन्तनिष्ठा पर ही मैं निर्भर हूं। निरुपाधिक होने का मतलब बाह्यकृति-रहितता से नहीं। गीता ने कहा ही है—**"पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि"** ये सारी क्रियाएं ज्ञानी करेगा। तो पूछा जाता है कि क्या वह हत्या करेगा। वह बोलेगा, पर व्याख्यान नहीं सुनायेगा; वह आंसू बहायेगा, पर रोयेगा नहीं; वह आनन्द करेगा, पर हँसेगा नहीं; वह खून नहीं करेगा, पर गला काट सकेगा। यह डा० दातार हैं, क्या इन्होंने चीर-फाड़ नहीं की? ज्ञानी पुरुष सब बुनियादी क्रियाएं

करता है। हम तो ज्ञानी नहीं हैं। अभिनय से थोड़े ही काम बनेगा ? अज्ञान के होते हुए भी ज्ञानी का स्वांग थोड़े ही रचा जाय?

हेतुरहित पर निष्प्रयोजन नहीं

कन्याकुमारी में संकल्प किया गया है, उसके मुताबिक काम तो जारी रहेगा ही। गीता में लिखा है—जो कर्म का फल न देखते हुए काम करता है वह तामस कर्ता कहलाता है, अथवा इसका यह न्याय भी मशहूर है— **प्रयोजनं अनादृत्य न मंदोऽपि न प्रवर्तते।** सो ज्ञानी की क्रिया में प्रयोजन रहेगा, हेतु नहीं। ग्रामदान का प्रयोजन रहेगा, पर वह हेतु नहीं रहेगा। ग्रामदान मिल जायं तो ठीक ही है, न भी मिलें तो दूसरे काम होंगे।

ज्ञान-गंगा बहती ही रहेगी

भूदान गंगा के छः भाग प्रकाशित हुए हैं। उन्हें तो खरीदना ही पड़ेगा। नौ रुपये उनके लिए खर्च करने पड़ेंगे। हमारी वाणी तो बहती ही रहेगी और ग्रंथ बनेंगे। ग्रामदान पर बोलना छोड़ देने पर भी अधिक ग्रंथ होने की सम्भावना है। फिर भी चाहता हूं कि सन् ५८ से और महाराष्ट्र से निरुपाधि बनकर विहार करूं। गुरुबोध में कहा ही है—**'स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः'** उसके अनुसार चलना है।

सर्वभूतहृदय होना नहीं

साने गुरुजी का शिष्य मोहाडीकर आया था न बुलाने ? 'अहेतुक बनकर आऊं तो तुम्हारा काम बन जायगा,' मैंने कहा। पानी समुद्र से मिलने जाता है। लोग अपनी-अपनी इच्छा के मुताबिक उससे काम लेते हैं। इसके अनुसार जिसने हेतुत्याग किया, उससे लोगों के अनेक हेतु सिद्ध होंगे। आज क्या होता है ? बड़े-बड़े जमींदार हमसे दूर रहते हैं। कई एक तो गांव छोड़कर भाग जाते हैं। तो हम कहते हैं कि वे हमारे ही लिए सब छोड़कर चले गये हैं। यह तो मजाक में कहता हूं। पर यह सर्वभूतहृदय बनना नहीं। उसे डर लगता है और इसका अर्थ यह है कि हम पूर्णरूपेण निर्भय नहीं हुए।

गोविन्दराव कहते हैं, इससे लोग अपना-अपना उल्लू सीधा कर लेंगे। क्यों न कर लें ? एक बार आर. एस. एस. वालों ने मुझे हनुमान-जयंती के

अवसर पर बुलाया। मैंने स्वीकृति दी तो कांग्रेसवाले मित्र बोले—"यह ठीक नहीं हुआ।" मैंने कहा—"क्या रावण-जयंती का निमंत्रण मैंने स्वीकार किया ? मैंने तो हनुमान-जयंती के लिए जाना कबूल किया है।" वे बोले—"पर उनका मतलब तो पूर्ण हो जाता है।" मैं बोला—"मेरा भी मतलब सिद्ध हो जाता है न !" "आपका क्या मतलब ?" "उनसे मिलना। यही मेरा मतलब है।"

दो बल : हनुमान और रावण

ये कांग्रेसवाले इतना सेक्युलर बन गये हैं कि हनुमान-जयंती जैसे धार्मिक सामाजिक अवसर पर भी कहीं नहीं जायंगे। मैं वहां गया और उनसे क्या कहा ? मैंने कहा—"रावण भी एक प्रकार के बल का प्रतिनिधि है और हनुमान भी एक प्रकार के बल का। पर हम रावण-जयंती नहीं मनाते। हनुमान-जयंती मनाया करते हैं। क्यों ? क्योंकि वह **"बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्"**, कामराग-रहित बल का प्रतिनिधि है।"

दूसरी बात मैंने उनसे कही—"आप यहां अखाड़े में आते हैं तो क्या कुछ फीस भी लेते हैं ?" वे बोले—"जी हां, चार आने लेते हैं।" मैं बोला—"यह तो उल्टी बात करते हैं। वे यहां आकर कुछ काम करते हैं तो आपको चाहिए कि आप ही उन्हें कुछ मेहनताना दे दें। पर यहां मेहनत कैसी ? बेकार उठने-बैठने की। आपको उत्पादक परिश्रम करना चाहिए। आप अगर अनाज पैदा नहीं करेंगे तो आपके शरीर में बल का संचार कैसे होगा ? अन्न ही बल है।"

मेरे साथ मेरे मित्र भी आये थे। वह बोले—आपने बहुत अच्छी बातें कहीं। मैं बोला—हम खराब कब बोलते हैं ?

संगठन करेगा सो मार खायेगा

महाराष्ट्र में मैं सबसे मिलूंगा। जो हेतु को लेकर जायगा वह महाराष्ट्र के दो टुकड़े कर देगा। उससे एकता के बजाय झगड़े बढ़ेंगे। महाराष्ट्र में जो ऑर्गनाइजेशन करेगा, वह मार खायेगा, क्योंकि उसकी प्रतिक्रिया अवश्य ही होगी। वहां एक से बढ़कर एक संगठन हैं। महाराष्ट्र को ज्ञानदेव ने वश में किया। वह निर्हेतुक, निरुपाधि रहे।

रावसाहब—फिर तो स्वागत-समिति की गुंजाइश ही नहीं रही।

विनोबा—वह तो आप देख लें।

हिरेकेरूर के मार्ग पर,
२५-१२-५७

: ४८ :

विश्वलिपि : नागरी व रोमन

नागरी, लोकनागरी और रोमन लिपियों के बारे में आज काफी चर्चा हुई। विनोबा ने बताया—रोमन लिपि के गुण नागरी में लाने हों तो आज के सब व्यंजनाक्षर हलन्त चिह्न के बिना ही हलन्त मान लिये जायं और उनके बाद स्वराक्षर लिखे जायं। यह लिपि विश्वनागरी कहलायेगी। यह विश्वनागरी छपाई तथा टंक-लेखन में इस्तेमाल की जाय। लिखने के लिए दूसरी है ही। हाल में व्याकरण तथा कोश में उसका प्रयोग हो।

दुनिया में अबतक यूरोप का दांव (इनिंग्ज) रहा। अब वह खत्म होने को है। इसके आगे एशिया का दांव चलेगा। हिन्दुस्तान अगर पराक्रम करेगा, याने दुनिया के सवाल हल करेगा तो उसकी नागरी लिपि विश्व-लिपि बनेगी। जापान पराक्रमी ठहर जाय तो जापानी को वह भाग्य मिलेगा। कौन-सी लिपि चलेगी यह उसके गुणों पर निर्भर न रहकर परा-क्रम पर अवलम्बित है। पहले एशिया की मात रही, उसके बाद यूरोप की बारी आई। अब यूरोप के खेल खत्म होने पर हैं। दुनिया के सवाल हल करने में उसके सफल होने की सम्भावना नहीं। उसके लिए नवदर्शन की ज़रूरत है। वह भारत के पास है। दक्षिण भारत और उत्तर भारत के बीच भी इस प्रकार की हार-जीत बारी-बारी से होती आई है।

तदेतत् (सत्यम्) त्र्यक्षरं उपासीत (बृ० ५-५-१)। यह उपनिषद्-वचन है। अर्थात् स-ति-यम् ये तीन अक्षर उनके कल्पित थे।

मैं—हमारी वर्णमाला मूलाक्षर कहलाती है। मतलब कि वे मूलतः

ही क क्ष ज्ञ जैसे स्वरांत हैं। इसलिए उन्हें अक्षर कहते हैं। हलन्त चिह्न बाद में जोड़कर उन्हें हल बनाया जाता है। तो भी विश्वनागरी बनाने में कोई बाधा नहीं। पर उसका चलन दूरापास्त है। वह एक भयानक क्रांति होगी। दो या अधिक वर्ण आंखों से देखकर उनका एक उच्चारण करना ऐसी प्रक्रिया है, जो नागरी की एक अक्षर के लिए एक उच्चारवाली प्रक्रिया के बिल्कुल विपरीत है। उदाहरण लीजिये---कार्त्स्न्य दो अक्षर-वाला शब्द है, द्वावयवी शब्द है। वह क आ र त स न य अ इस प्रकार अष्टावयवी लिखना पड़ेगा और उच्चारण में सिर्फ दो अक्षर रहेंगे। यह बात भयानक है। अब रोमन लिपि में यह बात है ही। पर शुरू से उसकी रचना वैसी रही है, इस कारण वह खटकती नहीं। Kartsnya पढ़ने में दिक्कत नहीं होती। पर क आ र त स न य अ को कार्त्स्न्य पढ़ने में पहले अक्षरों का अक्षरत्व भूलना, बाद में उन्हें व्यंजन के रूप में स्मरण करना, फिर उनका संयोग करना और अन्त में उच्चारण करना आदि क्रियाएं करनी पड़ेंगी। पूर्वाभ्यस्त मन इतना परिश्रम करने को तैयार नहीं होता। रोमन लिपि के बारे में इतना घटाटोप नहीं करना पड़ता। इसलिए वही लिपि स्वीकृत हो, यह है मेरी राय। पूर्व प्रकाशित ग्रंथ उस लिपि में फिर से छपवाने पड़ेंगे, पर यह आपत्ति विश्वनागरी के बारे में भी होगी। इसके अलावा रोमन लिपि के स्वीकार से आज ही लिपि की दृष्टि से समूचे संसार का एकीकरण हो जाता है, नवनवीन भाषाएं सीखने में एक लिपि कहांतक सहायक होती है, आपको तो बताने की जरूरत नहीं। मैं तो कहना चाहूंगा कि इसके प्रारम्भ के रूप में 'गीता-प्रवचन' हिन्दी रोमन लिपि में छपवाकर प्रसारित किया जाय।

हिरेकेरूर की राह पर,
२५-१२-५७

: ४६ :

भयानक प्रजावृद्धि और ब्रह्मचर्य

विनोबा---प्रजावृद्धि बेहद हो रही है। यह एक बुनियादी समस्या उठ खड़ी होती है। इस प्रजा के पोषण के लिए हर चूहा और हर हड्डी तक काम में लानी पड़ेगी। यह सब मुझे तो नीरस लगता है। प्रजोत्पादन में कुछ मर्यादा रहे, नहीं तो समूचे प्राणिजगत् का खात्मा हो जायगा। काठियावाड़ के सिंह नष्ट होने लगे ही थे। कल गाय भी गायब हो जाने की नौबत आयेगी। उसके बिना हमारा काम नहीं चलता, इसीलिए वह आजतक बची है। पर कल प्रजा-वृद्धि के साथ बिना बैलों की खेती अधिक फायदेमन्द होगी। तब बाघ से जो दुश्मनी है वही गाय से भी शुरू होगी। ईश्वर ही संहार-कर्ता है, सो बात नहीं, मानव भी संहार कर सकता है। कल आप तय करेंगे तो गिन-गिनकर एक-एक कुत्ते का और मवेशी का संहार आप कर डालेंगे। मानव मानव का दुश्मन बनेगा। एक समाज दूसरे समाज का खात्मा कर डालने पर तुल जायगा। नीग्रो, रेड इंडियनों का संहार हो ही चुका है। बिहार साफ कर लेने से बस्ती के लिए बढ़िया प्रदेश मिल जायगा, इस विचार से वह बेचिराग किया जा सकता है।

साइंस के बल पर, विज्ञान के बूते पर, उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। पर उससे क्या होगा? वासना पर अंकुश न हो तो उससे काम नहीं बनेगा। इन्सान सर्व-भक्षक बन जायगा। एक तरफ कोढ़ियों की तादाद बढ़ती जायगी तो दूसरी तरफ उनकी सेवा के प्रबन्ध से क्या होगा? कितनों की सेवा आप कर सकेंगे? जो काम अपने से पूरा होने की संभावना नहीं, उसे करते रहने से क्या लाभ? Getting and spending is sheer waste of Power. अर्थात्---"लेकर खर्च कर डालना सत्ता का महज अपव्यय है।" जिसे हम पूरा कर सकते हैं, उसे ही हाथ में ले लें।

कल अगर सौ में से पचास लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना तय कर लें तो क्या नहीं होगा। ब्रह्मचर्य की आवश्यकता सिर्फ आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक दृष्टि से भी महसूस हो रही है। केवल फैमिली प्लैनिंग

(परिवार-नियोजन) से काम नहीं बनेगा, सामाजिक नियोजन करना पड़ेगा। आश्रम-विचार और क्या है ? वह पुराना समाज-नियोजन ही है। जगत् के दुःख की जड़ तृष्णा में है। बुद्ध ने इसे पहचाना और तृष्णा-निरोध का मार्ग दिखाया। बिना वासना-नियमन किये सुख नहीं मिलेगा। पर ब्रह्मचर्य के बारे में बोलने की किसीमें हिम्मत ही नहीं। विज्ञान संयम को, ब्रह्मचर्य को क्यों न बढ़ावा दे दे ?

: ५० :

कणिका—८

सूर्योपासना नहीं, सत्योपासना

१. सूर्योदय के वक्त खड़े या बैठे 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' आदि उपनिषद्-वचन विनोबा कहते हैं, वह ईश्वरोपासना है, सूर्योपासना नहीं।

जयदेव बोला, "सूर्योदय नहीं हुआ।"

विनोबा ने कहा, "सूर्योदय से हमें क्या वास्ता ? हम सूर्योपासना नहीं करते, सत्योपासना, ईश्वरोपासना करते हैं।

... ...

मां का अंतिम संस्कार और मेरा आग्रह

२. मां की मृत्यु के वक्त मैं अतीव कठोर बना। मेरा मन्तव्य था कि ब्राह्मणों के हाथों विधि को नहीं करना है। पिताजी बोले—मां की श्रद्धा के अनुसार चलना हमारा कर्त्तव्य है। मैं बोला—मेरा विश्वास है कि मां मेरे ही हाथ का अंत्य संस्कार पसंद करेगी। लोगों ने कहा—अपना आग्रह आगे कभी चलाना। अब ब्राह्मणों द्वारा संस्कार हो जाय। मैं बोला—जी नहीं, अपने तत्त्व पर अडिग रहने की यहां वेला है। मां दुबारा नहीं मरती। यही है कसौटी का क्षण। मैं अडिग रहा। गोपालराव ने ऐसे हर अवसर पर तत्त्व के खिलाफ बर्ताव किया। मैंने अगर पाप किया हो तो

वह प्रचुर मात्रा में किया, पुण्य किया हो तो प्रचुर मात्रा में, इसमें कोई शक नहीं।

पिताजी योगी थे

३. पिताजी बड़े नियमबद्ध थे। वह शारंगपाणीजी के यहां हर…वार को जाया करते। एक नियत कुर्सी पर बैठकर उनके साथ एक घंटा गपशप में बिताते और लौट आते। यह उनका सिलसिला बरसों तक जारी रहा। उसमें कभी विच्छेद नहीं आया। कभी समयाभाव के कारण शारंगपाणीजी घर पर न रहे तो भी हमेशा की भांति वह उतना समय बिताकर ही लौटते। बड़ौदा में शारंगपाणीजी के यहां मैं गया था, तब उन्होंने मुझे यह बात बताई और उनकी कुर्सी भी दिखाई। पिताजी की यादगार में उन्होंने वह कुर्सी वैसी ही रखी है। वह बोले—तुम्हारे पिताजी योगी थे।

… … …

पिताजी से शास्त्रीय वृत्ति सीखी

४. पिताजी ने अपनी मधुमेह की बीमारी पर अपने नियमित और वैज्ञानिक आहार-प्रयोगों से काबू प्राप्त किया था। घुटने की बीमारी भी उन्हें आखिर तक सताती रही। जलोदर से उनका अन्त हुआ। उनसे मैंने शास्त्रीय प्रवृत्ति सीख ली है। कुंदर ने मुझपर आलोचना की कि मैंने उनकी लाश को यथाविधि नहलाया नहीं। पर जल्द-से-जल्द मैंने उसे अग्निसात् किया।

… … …

गुरु-बोध

५. श्री शंकराचार्य ने 'वाक्य-विचार' को मुख्य उपासना के रूप में माना है। गीति, भक्ति, वेदान्त-पाठ, उपनिषद्-पद्धति, वाक्य-विचार यह अनुक्रम रखकर अंत में अपरोक्षानुभूति तथा विवेक चूड़ामणि, जो कि पूर्ण विचारवाले ग्रंथ हैं, संक्षेप में रखे गये हैं।

ततः किम् से **अनात्मश्रीविगर्हण** से लेकर ही साधना का प्रारंभ होता है।

भूयो मित्रः पूरितो वा ततः किम्—मित्र शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ

है, सो क्यों ? यह प्रश्न श्री पंडित द्वारा पूछा गया था। मैंने लिख दिया—मैं अपने सारे मित्र पुरुष ही देख रहा हूं।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति—यह स्तोत्र आद्य श्री शंकराचार्य-रचित नहीं माना जाता है। पर मेरी राय में वह निश्चित रूप से उन्हींका है। लौकिक भावों से समरस होकर उन्होंने वह लिखा है। कवि ऐसा तो किया करते हैं। उसमें जो उम्र का निर्देश है वह श्लोक बाद में प्रक्षिप्त होगा।

डा० बेलबलकरजी की सम्मति में '**वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्**' आदि श्लोक-पंचक शंकराचार्य रचित नहीं है। पर मैं उसे उन्हींका रचा हुआ मानता हूं। '**निजगृहात् तूर्णं विनिर्गम्यताम्**' कहते ही मैं जोश में आ जाता हूं।

... ...

वेद और वेदार्थ

६. वेद में मित्र शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त है, वह सिर्फ सूर्य का ही वाचक नहीं। '**मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणः**' वह मित्र भी हो सकता है। वेद का 'अश्व' और लौकिक संस्कृत का 'अश्व' एक नहीं। संस्कृत का अश्व याने घोड़ा, पर वेद का अश्व केवल घोड़ा नहीं है।

वेदों का चुनाव मैं दो प्रकार से करना चाहता हूं। एक आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वजनोपयुक्त भिन्न-भिन्न मंत्रों का चुनाव, और दूसरा एक संपूर्ण मंडल का अर्थ-निर्धारण। यह दूसरा प्रकार वेदों का समग्र अर्थ-निर्धारण किस प्रकार किया जाय दिखाने के लिए। वह विद्वानों के लिए मार्गदर्शक रहेगा।

... ...

वैदिक ध्यानयोग के ध्यान में ठीक पैठे बिना, वेदों का स्वच्छ दर्शन हुए बिना वेद के विषय में लिखने का मेरा विचार नहीं। जो लोग इनके बिना वेद पर लिखते हैं, वे वेदों का अपकार करते हैं। **बिभेति अल्पश्रुतात् वेदः मां अयं प्रहरिष्यति इति।**

... ...

उपनिषद् और विचारपोथी

७. उपनिषद् भिन्न-भिन्न नोट्स के संग्रह हैं। बहुत-सी पुनरावृत्ति है, 'अब वायु, तेज आदि शब्दों से वाक्य बनाओ' कहने जैसी बात है। उपनिषदों के बारे में मुझे कुछ खास बात नहीं करनी है। उपनिषदों का अध्ययन, ईशावास्यवृत्ति तथा विचार-पोथी मिलाकर एक पुस्तक बनाई जाय। विचार-पोथी उसी किस्म की पुस्तक है। यों तो सब उपनिषद्-साहित्य ॐकार में समा गया है।

... ...

मेरा 'पंचामृत'

८. जेल में मुझसे पूछा गया कि हिन्दुधर्म का प्रमाण-ग्रंथ कौन-सा है। मैंने बताया—हमारा पंचामृत। यह अबतक बना नहीं। ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास के सारसंग्रहों का सार।

... ...

धार्मिक मनुष्य का विचार

९. मुझे १५ रुपये पारितोषिक के रूप में मिले थे। उस रकम से पुस्तकें खरीदनी थीं। मैंने एकनाथी भागवत की प्रति खरीदी। शंकर तगारे उसे पढ़ने के लिए ले गया। उसके पिताजी धार्मिक प्रवृत्ति के थे। पर उन्होंने देखा, यह एकनाथी भागवत पढ़ रहा है। उन्होंने मना किया। बोले—"यह अवस्था उसे पढ़ने के लिए योग्य नहीं। अपना स्वाध्याय छोड़कर यह क्या कर रहे हो?" तब उसने पिताजी से छिपकर वह पुस्तक पढ़ी। उन्होंने यह नहीं कहा कि वह किताब बिल्कुल पढ़ी ही न जाय। यही विशेष बात है। पर एक धार्मिक मनुष्य का यह विचार है तो आर्थिक मनुष्य का क्या होगा, देखिये। त्रैराशिक का उदाहरण है।

... ...

चुनाव में मेरी दृष्टि

१०. ज्ञानदेव, नामदेव आदि से तथा गुरुबोध में मैंने जो संकलन किया है, उसमें मेरी दृष्टि साहित्यिक रसग्रहण की नहीं। उसे पढ़कर मूल की तरफ पाठक खिंच जाय, यह उद्देश्य नहीं। मेरा चुनाव ऐसा है कि उसे पढ़-

कर मूल ग्रंथ को देखने की आवश्यकता महसूस न हो। उस ग्रंथ का सार-भूत अंश संकलन में संगृहीत हो। उसे पढ़कर कोई मूल ग्रंथ पढ़ने लगे तो मूल ग्रंथ के बारे में उसका आदर-भाव कम हो जायगा, बढ़ेगा नहीं, क्योंकि उसमें सिर्फ छाछ ही मिलेगा।

... ...

पष्ट और स्पष्ट

११. **'थेथ बोलिलें पष्ट हरिभजन'** रामदास की इस उक्ति में 'स्पष्ट' के बदले 'पष्ट' शब्द आया है। वह 'स्पष्ट' की अपेक्षा स्पष्ट और जोरदार मालूम देता है।

हिन्दी में 'स्पष्ट' का 'अस्पष्ट' हो जाता है। कौन कहेगा कि उसकी तुलना में 'पष्ट' अधिक स्पष्ट नहीं है? **'अस्तुति निंदा दोऊ त्यागे'** इसमें अस्तुति याने स्तुति। स्तुति का ही अस्तुति बना है।

... ...

डिक्टेफोन नहीं चाहिए

१२. डिक्टेफोन की आवश्यकता नहीं। वह हमारा साधन नहीं। उस पर मेरा भरोसा भी नहीं। उससे प्रचार नहीं होता।

... ...

सुवर्ण-कंकणवत् विवर्त

१३. ज्ञानेश्वरी में रज्जुसर्पवाला दृष्टान्त है। अमृतानुभव में सुवर्णकंकण का है। पहला है अपरिपक्व मानसवालों के लिए, दूसरा है परिपक्व मानस-वालों के लिए। पहला विवर्तवाद है, दूसरा परिणामवाद माना जायगा। पर वह भी विवर्त ही है। विचार-पोथी में यह विचार आया है—**'मैं सुवर्ण-कंकण विवर्त** मानता हूं।'

हिरेकेरूर : प्रातः घूमने के समय,
२६-१२-५७

: ५१ :

जय शम्भो ! जय महावीर !

रतलाम का मंदिर : जैन और सनातनी

आज सबेरे टहलते वक्त रतलाम के देवकृष्ण व्यास और अंबालाल जोशी को समय दिया था। डा० रामगोपाल जोशी, जो रतलाम के लोक-सेवक तथा शांति सैनिक हैं, उन्हें ले आये थे। वहां की परिस्थिति उन्होंने समझाई। रतलाम में एक प्रसिद्ध मंदिर है, जिसमें जिनमूर्ति तथा शिव-लिंग दोनों हैं। सो जैन और सनातनी दोनों ही वहां जाते हैं। अब कानून से हरिजनों को मंदिर-प्रवेश की इजाजत मिल गई है। मंदिर में हरि-जन न आने पाये, इसलिए जैनों ने शिवलिंग मंदिर से निकालकर फेंक दिया। सरकार ने उनकी पुन:स्थापना की। उसके बाद जैनों ने हाइकोर्ट की शरण ली और वहां निर्णय करा लिया कि वह मंदिर तथा उसकी भूमि जैनों की व्यक्तिगत जायदाद है, इसलिए मंदिर जैनों के हवाले कर दिया जाय और मूर्ति वहां से हटाई जाय। उसके अनुसार सरकार ने पुलिस की मदद से मध्यरात्रि के समय मूर्ति वहां से हटा दी। इस कारण बहुसंख्य सनातनधर्मी समाज क्रुद्ध हो गया है और मारकाट की संभावना हर क्षण बनी है। सरकार ने १४४ धारा लागू की है।

विनोबा डा० रामगोपाल जोशी से बोले—

मेरे पास एक ही पक्ष आया है तो निर्णय देना असंभव है। निर्णय देना ही हो तो यह दिया जा सकता है कि वह पक्ष शरणागति स्वीकार करे। पर इस प्रकार एकतरफा निर्णय देने की मेरी इच्छा नहीं। शांतिरक्षा का भी सवाल नहीं, क्योंकि उस काम के लिए पुलिस है ही। सिर फुटौवल की नौबत न आ जाय, बस। अंत में कोर्ट की ही शरण ली जाय, क्योंकि हम संविधान को माननेवाले हैं।

रामगोपाल बोले, "शांतिसैनिक के नाते मुझे अपनी बलि चढ़ानी होगी।"

विनोबा बोले—जय शंभो ! जय महावीर !

हिरेकेरूर : प्रातः घूमने के समय,
२७-१२-५७

: ५२ :

गीतार्थ

धर्म का अविरोधी काम : श्रीशंकराचार्य का अर्थ

१. **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ्।'** गीता का यह वचन मशहूर है। इसका अर्थ यह किया जाता है कि वैवाहिक स्त्री-पुरुष-विलास धर्म को मान्य है। पर वह ठीक नहीं। किशोरलालभाई केवल प्रजोत्पादनार्थ स्त्रीपुरुष-संबंध धर्म्य मानते हैं। ज्ञानदेव का अर्थ गोलमोल है।

पर शंकराचार्य काम से अशनपानादि का अर्थ लेते हैं और उसे ही धर्म्य मानते हैं। मुझे उनका अर्थ ठीक जंचता है। प्रजोत्पादन-हेतु काम के बारे में गीता का दूसरा वचन है : **'प्रजनश्चास्मि कंदर्पः'** **'उत्पत्ति-हेतु मैं काम'।** इसलिए वह अर्थ **'धर्मोविरुद्धो...'** से खींचातानी से निकालने की जरूरत नहीं।

गीता के दो विभूति-योग

सातवें और दसवें अध्याय में विभूतियां दी गई हैं। सातवें में **'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्'** आदि सूक्ष्म विभूतियां हैं, दसवें में **'स्थिराणां च हिमालयः'** आदि स्थूल हैं।

: ५३ :

मालथस का सिद्धान्त

मैं—क्या मालथस का सिद्धान्त आपको मान्य है ? सिद्धान्त यह है कि संसार में हर साल प्रजावृद्धि होगी और उस अनुपात में अन्नोत्पत्ति में वृद्धि नहीं होगी। इसलिए अगर लोग सुख से रहना चाहते हैं तो संतति-निरोध करना चाहिए। जनसंख्या को सीमित रखना चाहिए।

विनोबा—लोगों के लिए खाद्यान्न की कमी महसूस नहीं होगी। मनुष्य से बढ़कर समर्थ प्राणी दूसरा नहीं। अगर वह अन्य प्राणियों को मारकर खाने लगा और बाघ, सिंह, कीमकीटक भी नहीं छोड़े गये तो अन्न की कमी क्यों रहेगी ? इससे मनुष्यों को भी बुढ़ापे या अन्य कारण से निरुपयोगी बन जाने पर मारकर, और उनके मरणोपरांत उनका मांस क्यों न खाया जाय, यह भी विचार संभव है। पर इससे मनुष्य जी जायगा, तो भी मानवता मर मिटेगी। मानवता की रक्षा के लिए उसे संयम सीखना है। *अगर वह संयम नहीं सीखेगा तो वह महाराक्षस बन जायगा।*

I am monarch of all I survey
My right there is none to dispute;
From the centre all round to the sea
I am lord of the fowl and the brute.

यह तो वह कहता ही है। वह पशु-पक्षियों का प्रभु बन चुका है।

आपटे गुरुजी ने अपना मृत शरीर शिक्षा के लिए चीरफाड़ करने के हेतु दे दिया। अपनी संतति के पोषण के लिए वैसे ही वह क्यों न दिया जाय ? युद्ध में जब खाने की चीजें नहीं दी जा सकीं तब सैनिकों ने मृत मनुष्य-शरीरों को फाड़कर खा डाला और कभी-कभी तो जिन्दा आदमी भी खाने के हेतु मारे गये और भूख मिटाई गई। अगर आदमी केवल वासना-तृप्ति के लिए ही जीने लगे तो यह असंभव नहीं कि वह यहांतक नीचे गिर जाय। बिलाव अपनी विषय-वासना की तृप्ति के लिए नर-बच्चों को मार डालता है। पशुओं में यह बात चलती है। पर मानव वैसा

नहीं करता, क्योंकि वह मानवता को पहचानता है। उस मानवता, भूत-हित, दया की रक्षा के लिए उसे संयम करना है। यह केवल आर्थिक मसला नहीं, जैसा कि मालथस उसे मानता है।

रट्टीहल्ली के मार्ग पर,
२६-१२-५७

: ५४ :

बलिदान का आकर्षण

डोनाल्ड—सुकरात, ईसा, गांधी को अपने कार्य के लिए देह को खोना पड़ा। मतलब कि उन्होंने अपना काम इतने जोश से मृत्यु को चुनौती देकर किया कि अन्त में उन्हें बलिदान करना पड़ा। इस प्रकार का आवेश तथा आह्वान, बलिदान—अन्तिम त्याग—का आकर्षण भूदान-ग्रामदानादि क्रांति में नहीं दिखाई देता। क्या उसकी आवश्यकता नहीं? लगता है कि उस क्रांति का किसी अन्य विरोधी तत्त्व से या समाज से संघर्ष या विरोध नहीं दिखाई देता, सो वह असरकार नहीं हो रही है। ईसा ने कहा है—"या तो मेरा अनुसरण करो, या विरोध करो। दोनों में से एक भी जो नहीं करता, वह मेरे विचार का सच्चा शत्रु है।" गांधीजी भी यही कहते हैं। इस विषय में आपका क्या मन्तव्य है?

विनोबा—मुझे नहीं लगता कि ऐसी आवश्यकता है।

(विनोबाजी इस प्रश्न का आशय नहीं समझ सके, या किसी दूसरे विचार में डूबे हुए थे। सो प्रश्न का उत्तर ठीक-ठीक नहीं मिला।)

: ५५ :

विवक्षा-पाठ

मैं—ईशावास्योपनिषद् का सबेरे की प्रार्थना में जो पाठ होता है वह पद-पाठ है। पर उसे पद-पाठ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें प्रत्येक पद अलग-अलग नहीं कहा जाता। उपसर्ग भी अलग कहे जाते हैं। कुछ पद, कुछ वाक्यांश कहे जाते हैं। कोई एक निश्चित पद्धति अपनानी चाहिए।

विनोबा—तमिल प्रबंधम् में केवल पद-ही-पद हैं, संहिता है ही नहीं। पदों में ही कहने-लिखने की पद्धति है। वही पद्धति हम क्यों न अपनायें? ईशावास्य उसी ढंग से याने पद-पाठ मात्र छापा जाय। संहिता न दी जाय।

मैं—या तो संहिता या पदपाठ और आगे बढ़कर अन्तःसन्धि अलग करके उपसर्ग तथा धातुरूप भी अलग करने का आपका तरीका, जिसमें दोनों ढंग का समावेश है, मुझे पसन्द नहीं। इसके बदले में विवक्षा-पाठ पसन्द करूंगा। विवक्षा-पाठ में गद्य-ग्रन्थ के बारे में अर्थ के अनुसार सन्धि अलग करके वाक्यांश या संबद्ध पदसमुच्चय दिखाये जायंगे, पर हर पद अलग नहीं कहा जायगा। तस्यैव, ततश्च जैसे पद संहित ही रहेंगे। सब पदों का अलग-अलग उच्चारण संस्कृत में कृत्रिम-सा लगता है। पद्य में प्रत्येक चरण अलग करना, छन्दानुरोध से चरण के बीच की सन्धि अलग करना (जैसे—**आपूर्यमाणम् अचल-प्रतिष्ठम्**—इस प्रकार संधि-विच्छेद किये बिना संहिता-पाठ करने से छंद बिगड़ जाता है और अर्थबोध का सौकर्य भी नहीं रहता), विरामीकरण करना (जैसे—**स शान्तिमाप्नोति, न कामकामी**), कहीं-कहीं अर्थ प्रकटीकरण के लिए संहिता या छन्द को ताक पर रखकर पदों को अलग करके कहना (जैसे—**वायुरनिलममृतम्** के बदले **वायुः अनिलं अमृतम्**) आदि रहेगा।

विवक्षा से मतलब मूल ग्रंथकार की विवक्षा जो मेरी दृष्टि में उचित है, उसके अनुसार पाठ याने विवक्षा-पाठ।

इस प्रकार लिखी-पढ़ी जानेवाली संस्कृत को मैं सुसंस्कृत कहूंगा।

विनोबा बोले—ठीक, सुसंस्कृत याने सुलभ संस्कृत।

मैं-पुराना अक्षरराशिलेखन इस दृष्टि से असंस्कृत ही कहा जायगा।

मासूर की राह पर,
३०-१२-५७

: ५६ :

जागतिक लिपि

मैं—हिन्दुस्तान में तीन लिपियां रहें—१. नागरी, २. रोमन, ३. अरबी

विनोबा —पर तीनों सब जगह रहें सो बात नहीं। अरबी कहीं-कहीं चलेगी।

मैं—नागरी और रोमन का चलन सार्वत्रिक हो। रोमन जागतिक लिपि है।

विनोबा—नागरी ही चीन-जापान आदि एशियाई राष्ट्रों के लिए नजदीक की लिपि रहेगी।

मैं—एशिया में अरबी हिन्दुस्तान के पश्चिम में, और नागरी हिन्दुस्तान तथा पूर्वी देशों में चलने की संभावना है। पर ये तीन लिपियां तथा चौथी चीनी अपनी-अपनी विशेषता रखती हैं। इनमें सबसे अधिक समर्थ तथा सुलभ लिपि रोमन ही है। वही जागतिक लिपि का आदर पायेगी। हिन्दुस्तान में भी सब भाषाएं उसे स्वीकार करें। अब हमें सिर्फ राष्ट्रीयता का ही खयाल नहीं करना चाहिए। हम अन्तर्राष्ट्रीय हैं, विश्वमानव हैं। इस दृष्टि को लेकर ही निर्णय करना चाहिए। लेकिन जबतक यह नहीं होता, तबतक यूरोप में जिस प्रकार रोमन लिपि है, वैसे ही भारत में सब भाषाओं के लिए नागरी अपनाई जाय। इसको भी मैं बहुत बड़ी प्रगति मानूंगा। उसके पहले नागरी में कुछ सुधार कर लेना उचित होगा। मैं मानता हूं कि उसका दिग्दर्शन लोकनागरी द्वारा किया जा चुका है।

विनोबा—कौन-सी लिपि जागतिक लिपि के सम्मानित पद पर

आरीन होगी, यह बात जागतिक समस्याओं को कौन हल करेगा, इसपर याने पराक्रम पर निर्भर होगी। पश्चिम की बुद्धि का दिवाला निकल गया है। इस कारण अब पूर्व की तरफ आंखें मुड़ जाती हैं।

: ५७ :

कणिका—६

ॐकार

१. मैं—मेरे मन में एक विचार आया कि ॐ केवल अ, उ, म् का समाहार नहीं। इसलिए उसे 'ओम्' नहीं लिखना चाहिए। 'ॐ' ही उसकी विशिष्ट मूर्ति है। वह एकजीव समग्र ध्वनि है। कंठ, ओष्ठ, नासिका में से एकदम एकत्र निकलनेवाली वह ध्वनि है। सर्ववर्णों का आदिवर्ण है, इतना ही नहीं, वेदों का और सृष्टि का भी आदि है, सर्वादि है। वह वही है, जिसका वर्णन यों किया जाता है—'स्वत: सर्वं जगदिदं जायते।' **ॐ तत्सद् इति निर्देशो ब्रह्मणस् त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास् तेन वेदाश् च यज्ञाश् च विहिताः पुरा॥** कहकर गीता ने उसका सर्वमूलत्व, सर्वादित्व वर्णन किया है। सचराचर व्यक्त सृष्टि का याने अखिल विश्व का वह अव्यक्त मूल है। व्यक्तमात्र क्षर है तो वह है अक्षर। अतः वह मूलाक्षर कहलाता है।

विनोबा—पुरानी मराठी में 'ओ' ही ॐ लिखा जाता था। तो ओम् और ॐ में वैसा फर्क नहीं। वह रासायनिक संयोग है, एकजीव है, यह बिल्कुल सही है। 'उपनिषदों के अध्ययन' में उसका विवेचन किया गया है।

... ...

एफ. एफ. टी.

२. मैं—अहमदाबाद में एफ. एफ. टी (F.F.T.) यानी सन्मित्रपरिवार (The Fellowship of the Friends of Truth) की वार्षिक सभा होनेवाली है। उसका मैं एक सदस्य हूं। डोनाल्ड भी हैं। बापू ने अनेकानेक संस्थाएं स्थापित कीं, चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, तालीमी संघ, हरिजन सेवक संघ आदि। पर सर्व-धर्म-समभाव के लिए कोई संस्था उन्होंने नहीं

कायम की। उस कार्य के हेतु यह संस्था बनी है। बापू का उसे आशीर्वाद था। उसके कार्य के बारे में आपकी अपेक्षा क्या है?

विनोबा—संपत्तिदान और ग्रामदान का कार्य वे करें। यह कार्य सर्व-धर्मानुकूल है।

मैं—वह संस्था मुख्यतः मानसिक, बौद्धिक कार्य करने के लिए है, हार्दिक ऐक्य-संपादन के लिए है। वैचारिक समन्वय उसका प्रमुख उद्देश्य है। उन लोगों को शांतिसेना का कार्य सुझाया जा सकता है।

विनोबा अन्यमनस्क से दिखाई दिये। कुछ बोले नहीं।

सत्तावन की समाप्ति

३. डोनाल्ड—सन् ५७ समाप्त होने को है। मुझे लगता है कि जिन्होंने अबतक भूदान, संपत्तिदान आदि किया है, उन सबसे व्यक्तिगत संपर्क बनाये रखने के लिए हरेक को आप एक पत्र लिखें। उसमें संपन्न कार्य के लिए आस्था तथा होनेवाले कार्य के लिए दिशादर्शन रहे।

विनोबा—मैं भी सोच रहा हूं। पर १ जनवरी, १९५८ के बदले ३० जनवरी या १२ फरवरी को वह किया जाय।

मासूर की राह पर,
३०-१२-५७

: ५८ :

भगवान् बुद्ध

वेद-निंदक

मैं—बुद्ध को कई लोग नास्तिक मानते हैं। 'नास्तिको वेदनिंदकः' यह है उनकी नास्तिक की परिभाषा। "निंदसि यज्ञविधे रहह श्रुतिजातम्। सदयहृदय दर्शित पशुघातम्। केशव धृतबुद्धशरीर।" इसमें भी बुद्ध को वेदनिंदक बताया गया है। तुलसीदास ने भी कहा है—

अतुलित महिमा वेद की तुलसी कियो विचार।
जो निंदत निंदित भयो, विदित बुद्ध अवतार॥

वास्तव में कहीं भी बुद्ध ने वेद की निंदा नहीं की। जाति-पांति के विरोधी देखकर जातिवादियों ने उनपर यह झूठा इलजाम लगाया है, उनकी निंदा की है, बदनामी की है। बुद्ध के समय में और इसके अनंतर भी भगवान बुद्ध का आदर ब्राह्मण करते थे। उनके धर्म-प्रचारक और प्रमुख शिष्य सारिपुत्त तथा मोग्गलान इत्यादि ब्राह्मण ही थे। बुद्ध के मन में भी ब्राह्मणों के लिए नितांत आदरभाव था। धम्मपद का अंतिम वर्ग, जो सबसे बड़ा वर्ग है, ब्राह्मण-वर्ग है। पर आगे चलकर बौद्ध राजाओं को परास्त करने के लिए हिंदू राजाओं ने जो सर्वतोमुखी प्रयास किया, उसका एक मौलिक तथा प्रभावी अंग था बुद्ध, धर्म तथा संघ की निंदा, बदनामी और विपर्यास। 'एडूक-प्राया पृथिवी भविष्यति कलौ युगे।' 'संमोहाय सुरद्विषां बुद्धो नामांजन-सुतः कीकटेषु भविष्यति' आदि भागवत के तथा अन्य हिंदू ग्रंथों के वचन इसी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। यज्ञयागों की निंदा तो खुद उपनिषदों ने भी की है—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' आदि से। निरीश्वरवादी हैं, इसलिए बुद्ध को नास्तिक कहा जाय तो कपिल मुनि क्या थे? आपका क्या अभिप्राय है, इस विषय में?

नारायण हमारी पसंदगी की चीजें देता है

विनोबा—जो पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास करता है, स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष में जिसकी श्रद्धा है, वह कैसा नास्तिक, निरीश्वरवादी और अनात्मवादी? अंतिम तत्त्व, परमार्थ शब्दातीत है। विष्णु सहस्र नाम में कहा है—'शब्दातिगः शब्दसहः।' शब्दातीत वस्तु का वर्णन करने में कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। मतभेद की गुंजायश यहीं है। जो कल्पना अधिक तर्क-संगत हो, उसे लेना पड़ेगा। तो भी इसमें पसंदगी का भी सवाल है। नारायण हमारी पसंदगी की वस्तु देता है। किसीको अद्वैत, किसीको द्वैत तो किसीको विशिष्टाद्वैत भाता है। बुद्ध ने एक अलग रुचि दिखाई है तो उसमें क्या हर्ज है? वेदान्त से वह सुसंगत ही है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टताद्वैत सब वेदान्त ही है। वैसे ही बुद्ध का भी अपना निजी वेदांत है। धम्मपद की वेदान्ती टीका क्यों न की जाय?

आत्मा

धम्मपद में आत्मा शब्द बार-बार आया है। वहां हर बार बौद्धों को बताना पड़ेगा कि 'आत्मा' यहां वेदान्ती आत्मा नहीं है। हमें ऐसा कुछ नहीं करना पड़ेगा। **'अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया'**। यह क्या है? **'आत्मैव ह्यात्मनो बंधुः'**। इन दोनों में क्या अंतर है? आप कहते हैं कि आत्मा प्रवाहरूप नित्य है; पर वही मैं हूं यह अनुस्मरण उसे कैसे संभव है? 'ब्रह्मसूत्र' में 'अनुस्मृतेश्च' सूत्र से आत्मा का निरंतर एकत्व कूटस्थ लक्षण के रूप में विवरित है।

वासना-निर्वाण और ब्रह्म-निर्वाण

बौद्ध निर्वाण से वासना-निर्वाण का अभिप्राय है, सो उसको उपमा दीप-निर्वाण की देते हैं। उस अवस्था को शून्य कहते हैं। पर गीता उस निर्वाण को ब्रह्म-निर्वाण मानती है, और उसे जलती दीपज्योति की उपमा दी जाती है। **"यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता। योगिनो यत-चित्तस्य युंजतो योगमात्मनः॥"** गीता ज्ञानावस्था को महत्त्व देकर बोलती है तो बौद्ध विचार में वासना-क्षय को महत्त्वपूर्ण माना है। दोनों मेरी राय में एक ही हैं। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' में अंत में मैंने बताया ही है—**एकं ब्रह्म च शून्य च यः पश्यति स पश्यति।**

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म में विश्वास करने के लिए दो कारण हैं—

१. बचपन से ही मेरी पसंदगी में विशेषता क्यों? किसी विषय की ओर मुझे खिंचाव नहीं है, यह किस बात का लक्षण? पूर्वजन्म में उसका अनुभव लेकर उस विषय में मैं निस्पृह बन गया हूं, उसमें मुझे कुछ सार नहीं दिखाई देता, इसीका वह लक्षण है। अन्य लोग गृहस्थी में फंस जाते हैं, उनके बारे में मेरे मन में तुच्छता का भाव नहीं। इसका अर्थ यही है कि उनकी साधना अबतक अधूरी ही रही है। उन्होंने अनुभव नहीं पाया है।

२. एकाध बच्चा एक साल की उम्र पूरी करने के पहले ही मर जाता है। इसका क्या कारण है? उसका पूर्व-कर्म ही इसका कारण हो सकता

है। इस जन्म में तो उसने कुछ पाप किया है सो नहीं दिखाई देता। सब कर्मों—पाप या पुण्य—के फल यहीं मिलते हैं, मान लें तो अलग बात है। पर इस प्रकार का अनुभव नहीं। इन दो कारणों के लिए पुनर्जन्म में विश्वास करना पड़ता है।

ईसाई, इस्लाम, यहूदी ये सेमेटिक धर्म पुनर्जन्म नहीं मानते। पर उसके खिलाफ भी उन्होंने नहीं लिखा। अब उनमें जो विचारी लोग हैं, पुनर्जन्म मानने लगे हैं। भारत, यूरोप और अमरीका में बहुत-से ईसाई अब पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।

षड्दर्शन और ब्रह्मसूत्र भाष्य के अनुवाद

प्रारंभ में मैंने षड्दर्शनों का अध्ययन मराठी द्वारा किया। सयाजी ग्रंथमाला में प्रकाशित करीब सब ग्रंथ मैं पढ़ चुका था। उस ग्रंथमाला में 'विवाह-विधि और समारोह'—जिसमें १८२ विभिन्न रीतियां वर्णित हैं, और ब्रह्म-विवाह का सविस्तर विवेचन है—से लेकर अभ्यंकर शास्त्री-कृत 'ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—मराठी भाषांतर' तक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। रसायन, भौतिक विज्ञान, आदि अनेकानेक विषय मैंने उस माला में या अन्यत्र मराठी पुस्तकों में पढ़ लिये थे। अभ्यंकर शास्त्री ने ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का मराठी अनुवाद सरल भाषा में किया है। सूत्र भी और भाष्य भी मराठी में दिये हैं।

मैं—इतने सालों के बाद उसका दूसरा संस्करण अभी निकला है। तीन खंड हैं। प्रथम संस्करण मैंने देखा था। उसका मराठीपन तथा पाद-टिप्पणियां उसकी विशेषताएं थीं, जो विशेषतया मुझे भाई थीं। लेलेशास्त्री का अनुवाद भी मुझे उपयुक्त जंचा। पर बापट शास्त्री का अनुवाद कुछ और ही है, वह भयानक अनुवाद है।

विनोबा—बापटजी का अनुवाद लेलेजी के अनुवाद की अपेक्षा अधिक फेथफुल (मूलनिष्ठ) है। तो भी अनुवाद समझने के लिए बहुत बार मूल ग्रंथ की सहायता मिलती है। अन्य अनुवाद केवल मूलग्रंथ समझने में हमारी मदद करते हैं, यह अनुवाद भी मदद देता है। पर अनुवाद को समझने में मूल की मदद मिलती है, यह है इसकी विशेषता।

'षड्दर्शन' पर व्यंग्यात्मक कविता

यह सब ग्रंथ, षड्दर्शन, जब मैंने पढ़े तबकी वह कविता है, जिसमें तुम कहते हो कि षड्दर्शनों का औपरोधिक वर्णन मैंने किया है। मैं कहा करता था—"गाय के चार पैर होते हैं, टेबल के चार पैर होते हैं। अब ये पैर, जिनका वर्णन तुम करते हो, सचमुच हैं या नहीं हैं? विद्यमान पैरों का वर्णन हो तो जो दिखाई देता है उसका वर्णन करने से क्या लाभ? अगर अविद्यमान हों तो तुम मिथ्या बोलते हो। तो इस चर्चा से क्या लाभ? मटका कैसे पैदा हुआ? तुम चर्चा करते हो। जो मिट्टी में विद्यमान था वही मटका बनाया गया, या जो अविद्यमान था? अगर वह मिट्टी में था ही नहीं तो वह आया कहां से? मिट्टी में नहीं था तो भी वह उसमें से निकला, यह अगर तुम्हारा कहना हो, तो दही से मटका क्यों नहीं बनता? ये चर्चाएं चलाते तुम बैठो, चाहे तुम किसी निर्णय पर पहुंचो या न पहुंचो, कुम्हार अपना मटका बनाता ही है।"

मूर्तिपूजा की कड़ी आलोचना

बिहार के किसी गांव में मैंने मूर्तिपूजा पर बड़ी कड़ी आलोचना की। 'लोग पत्थर की मूर्ति की पूजा करते-करते खुद पत्थर बन चुके हैं, वे संगदिल बन गये हैं। उनमें न करुणा है, न उनका दिल दया से द्रवित होता है।' मेरा वक्तव्य सुनकर एक भक्त बड़े नाराज हो गये। वह बोले—आपका 'गीता-प्रवचन' पढ़कर, उसमें जो तुलसी-पूजा, आरती, धूप आदि की चर्चा है उसे पढ़कर, मैं आया, पर आपने मेरी श्रद्धा को चूर-चूर कर डाला। लोगों ने उन्हें समझाया—बाबा दोनों तरफ से बोलता है।

हिंदूधर्म का सर्व-धर्म-समन्वय

तत्त्ववाद भले ही भिन्न-भिन्न हों, पर साधना के बारे में भारत-भर में एकमत है। हिंदूधर्म ने सर्व-धर्म-समन्वय किया है। राजम्मा के पिताजी कट्टर हिंदू हैं, पर उनके देवगृह में ईसा की तस्वीर बिना किसी विरोध के रह सकती है। इन रेकन्सिलिएशन वालों की बात इसके विपरीत है, वे यह मानने को कतई तैयार नहीं हैं। ईसा की श्रद्धा के बिना मुक्ति मिल सकती है। कम-से-कम यह है कि औरों की अपेक्षा ईसा का महत्त्व उनके लेखे

अधिक है।

नास्तिक ईश्वर को नहीं मानता। पर वह प्रामाणिक है। आस्तिक ईश्वर को मानते हुए भी भेद को आश्रय देता है। यह अप्रामाणिकता है। जब ईश्वर एक ही है तो उसके भक्तों को चाहिए वे भेदभाव को हटाकर एक हो जायं।

मासूर के मार्ग पर,
३०-१२-५७

: ५६ :

कणिका—१०

पांच धर्म-तत्त्व

१. मैं—आप कहते हैं कि आज दुनिया में केवल श्रद्धा (Faith) है, एक धर्म-श्रद्धा है, पर अबतक धर्म नहीं बना। तो धर्म के कुछ तत्त्व बताइयेगा।

विनोबा—स्वामित्व-विसर्जन, सत्य, अहिंसा, संयम तथा श्रमनिष्ठा ये हैं धर्म-तत्त्व। नवसमाज की रचना इन्हींपर आधारित रहे। ग्राम सेवा-मंडल, सर्व सेवा संघ और कांग्रेस इन संस्थाओं के साथ मेरा संबंध रहा है। उनको चाहिए कि वे इस कार्य को अपनालें।

... ...

सर्वज्ञ और कबीर

२. मासूर (जि० धारवाड़) सर्वज्ञ नामक कन्नड़ कवि का जन्म-स्थान है। उसका जन्म ईसा की तेरहवीं सदी में हुआ। उसका पिता था ब्राह्मण और माता थी कुम्हार-कन्या। कबीर की भांति उसने सब विषयों पर सुभाषित उक्तियां कन्नड़ में लिखी हैं। अनंत रंगाचारी ने कल की प्रार्थना-सभा में सर्वज्ञ के कई वचन गाये थे। उसे लेकर आज सवेरे पदयात्रा में चर्चा छिड़ गई।

कामाक्षी—कल आपने कहा कि सर्वज्ञ कबीर जैसा था। आपका

कहना दूसरे अर्थ में भी ठीक है। कबीर की भांति ही सर्वज्ञ का जन्म हुआ था।

विनोबा—हिंदी में रहीम, तमिल में वेमन्ना, वैसे कन्नड़ में सर्वज्ञ सुभाषितकार कहा जा सकता है। कबीर की सूक्तियां भी मशहूर हैं। तो भी कबीर की योग्यता बहुत उच्च स्तर की है। उसके समान असांप्रदायिक स्वतंत्र विचारवाला पुरुष विरला ही मिलेगा। उसकी रचना गूढ़ है। कबीर के नाम पर प्रचुर कविता मिलती है, पर सब उसकी नहीं है।

हिंदी-प्रचार 'धंधा' बन गया है !

कामाक्षी—हिन्दी की परीक्षा में कबीर, तुलसी आदि हिन्दी कवियों की रहस्यवादी तथा भक्तिपरक रचनाएं और उनकी समालोचना नियुक्त रहती है। कितने ही विषय रहते हैं।

विनोबा—हिन्दी के अध्ययन के लिए पुराने पद्य-साहित्य तथा साहित्य-चर्चा की क्या जरूरत ? इन लोगों का वह 'धंधा' बन बैठा है। उस दिन बेंगलूर में मैंने कहा—जब हिन्दी का प्रचार जारी है तो और गांधी-विचार-प्रचार की क्या आवश्यकता ? हिन्दी की पढ़ाई, हिन्दी का प्रचार गांधी-साहित्य का, गांधी-विचार का ही प्रचार है। पढ़नेवालों को गांधी-रीति पढ़ानी है कि रसरीति ?

... ...

आज्ञा मेरी रीति नहीं है

३. कल नारायण का पत्र आया। उसमें उसने एक बड़े महत्त्व की बात का उल्लेख किया है। वह कहता है—"पिछले छः-सात सालों में आपने कभी मुझसे नहीं कहा कि यह करो या वह करो।" यह मेरी रीति ही नहीं है। कभी-कभी मैंने सीधे किसीको कुछ करने की आज्ञा की है। उस वक्त मैं हार गया था, मात खाई थी। मैंने बापू के बारे में भी यह बात देखी है। वह भी किसीको कभी कुछ करने, न करने की आज्ञा नहीं सुनाते थे। पर कभी-कभी उन्हें आज्ञा करनी पड़ी और उससे काम बिगड़ गया।

... ...

साने गुरुजी के बारे में मेरी गलती

४. बाहर आने में मुझे देर हो गई। मेरा कार्य पहले शुरू हो जाता

तो गुरुजी रह जाते। उन्हें सीधा आदेश देना मेरा कर्तव्य था। पर वह मेरी गलती हो गई।

... ...

बाघिन का दूध पीकर क्रूर बने

५. चिपलूणकरजी अंग्रेजी विद्या को बाघिन का दूध कहा करते। उनकी धारणा थी कि उससे हम शूर बन जायंगे। मुझे लगता है कि क्रूर बन गये हैं। मनुष्य से जानवर बन गये और वह भी जंगली। मुझे लगता है कि गाय का दूध ही अच्छा। पर उसकी चाह नहीं चाहिए। मां का दूध पी लिया है, वही पर्याप्त है।

... ...

घुमक्कड़ी करो

६. विनोबा—दातारजी साठ साल पूरे कर रहे हैं, आपकी क्या उम्र है, कुंटेजी ?

"पांच साल बड़ा हूं।"

"याने मुझसे तीन साल। आप हर रोज ५-६ मील घूमते रहिये।"

"आपके साथ ८-१० मील भी चल सकता हूं, पर अकेले घूमना मुश्किल लगता है।"

मैं—विनोबा बचपन से ही घूमा करते हैं। पर वह अकेले शायद ही घूमे हों। चार-पांच को साथ लेकर ही वे घूमने जाते थे और अब भी जाते हैं।

विनोबा—कुंदर ठीक कहता है। साधना समाज के साथ ही की जानी चाहिए। एकान्त में भी मानसिक समाज हुआ ही करता है। अपने में समाज की कल्पना करते हुए साधना की जाय।

... ...

ब्रह्म और ब्रह्मविद्

७. ब्रह्म होना याने सम होना। केवल कॉमनमैन नहीं तो कॉमन थिंग भी। जो ब्रह्म हो गया वह अपनेको कोई विशेष व्यक्ति रूप नहीं महसूस करता। वह सबसे एकरूप बन गया। शंकराचार्य कहते हैं 'स ब्रह्मैव भवति, न ब्रह्मवित्'। बड़ा मार्मिक वचन है यह। ब्रह्मवित् अलग होता है,

वह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म होना याने अलगपन का लोप हो जाना।

... ...

रामायण का रमणीयत्व

८. कल रामायण में राम के राजतिलक की तैयारियों का वर्णन पढ़ा। पर राम ने पहले अपनेको अभिषेक नहीं करवाया। उसने कहा कि चतु:-समुद्र और सब नद-नदियों के जल से पहले सुग्रीव आदि को नहलाया जाय। उसने पहले अपनी जटाओं को नहीं, भरत की जटाओं को अपने हाथों सुलझाया। (वहां 'नियराए' कहा गया है। उसने स्वयं बाल काटे या जटा सुलझाई ?) ईसा ने ठीक यही किया। उसने अपने हाथों अपने चेलों के चरण धोये। इस कारण ही रामायण हमारे सिर आंखों पर है।

राम में साम्ययोग कैसा रोम-रोम में समा गया था! प्रथम वन जाने से पहले जब राजतिलक निश्चित हुआ और व्रत, उपवास आदि की सूचना देने कुलगुरु वसिष्ठ राम के पास आये तब राम कहता है—"आप क्यों आये! मैं ही आपके पास आ जाता," और बाद में कहता है—"इस रघुकुल में सब-कुछ ठीक है, पर अकेले ज्येष्ठ पुत्र को गद्दी पर बिठाते हैं, यह ठीक नहीं।" हम सब भाई साथ-साथ खेले, साथ ही पढ़ाई की, साथ खाया, साथ पिया और राज्य मुझ अकेले को दिया जा रहा है, सो कैसे? इसका उसे बड़ा अचरज मालूम हुआ। बाद में जब वन जाना तय हुआ, तब उसके आनन्द का क्या कहना! जैसे जंगल में पकड़कर लाया हुआ और जंजीरों में जकड़ा हुआ हाथी छुटकारा पा जाय और आनन्द से, खुशी से, वन की ओर दौड़ता चले, वैसे ही राम वन जाने के लिए उत्सुक हो उठा। यह है रामायण की रमणीयता।

जिप्सी मेरे पैरों में प्रकट है

९. आज दोपहर को मंगेश पाडगांवकर, और पु. ल. देशपांडे आये हैं। प्रार्थना-प्रवचन के बाद वह थोड़ी देर के लिए विनोबा के पास बैठे थे। मंगेश ने अपनी कुछ कविताएं पढ़ सुनाईं। अन्त में जिप्सी कविता गाई।

विनोबा बोले—"आजकल लोग नियंमक पद्य लिखने लगे हैं। आपका सयमक गद्य मालूम देता है। जिप्सी आपके मन में छिपा हुआ है,

पर मेरे पैरों में प्रकट है !"

पु. ल. देशपांडेजी ने भी एक राजस्थानी गीत सुनाया और साने गुरुजी के उपवास के कारण पंढरपुर के विट्ठल-मंदिर में हरिजनों को प्रवेश मिला उस प्रसंग को लेकर लिखा हुआ स्वकृत पद्य भी।

नेलवागीलू के मार्ग पर,
३१-१२-५७

: ६० :

जीवन का शास्त्रीय नियोजन

विनोबा—आज डा. दातार अपने साठ साल पूर्ण कर रहे हैं। उसके उपलक्ष में आपने तय किया है कि आगे का समस्त जीवन शुद्ध निष्काम सेवा में लगायेंगे। इस निश्चय के लिए वह भगवान की दुआ मांग रहे हैं। वैसे तो उनका समूचा जीवन सेवा में ही व्यतीत हुआ है। आजतक उन्होंने जो पेशा अपनाया था उसमें दुखी मानवता की सेवा ही उन्होंने की है। वह सर्जन थे। हजारों की तादाद में उन्होंने आपरेशन किये। मतलब यह कि दुखियों के दुःखमोचन का काम किया। रोग से, दुःख से, मुक्ति तो भगवान ही देते हैं, डाक्टर केवल चीर-फाड़ किया करता है, यह भी वह जानता है। इस सेवा को निष्काम नहीं कहा जा सकेगा। उसमें अपेक्षा थी। पर उसे अब वह छोड़ चुके हैं और साहित्य-प्रचार का, भूदान का कार्य कर रहे हैं। पर अबतक वह आंशिक समय दे सके हैं। घरेलू झंझटों में फंसे हुए थे, इससे पूरा समय नहीं दे सकते थे। अब उनसे मुक्त हो गये हैं। चाहते हैं कि आगे इस कार्य में पूरा समय देंगे। शांतिसैनिक भी होना चाहते हैं।

६० साल की उम्र ऐसी अवस्था होती है कि उस वक्त आदमी के विचार पक्के हो जाते हैं। शरीर तथा मन की तृप्ति हो गई होती है। अनुभव प्रचुरता से इकट्ठा हुआ होता है। इनकी बदौलत आगे का जीवन एक निश्चित पद्धति से तथा बुद्धि की स्थिरता को लिये हुए बीत सकता है। भारतीय समाज का एक बड़ा गुण यह है कि मनुष्य का मानसिक विकास

सुव्यवस्थित रीति से कैसा हो इसका मार्ग-दर्शन उसने ठीक-ठीक किया है। मनुष्य-जीवन की कई अवस्थाएं होती हैं। शेक्सपियर ने सात अवस्थाएं मानी हैं। वह नाटककार था। उसने मानव-जीवन की सात भूमिकाएं मानी हैं। भागवत में भी मानवजीवन की भूमिकाओं का वर्णन पाया जाता है। उनको शास्त्रीय रूप प्रदान करने का काम हमारे शास्त्रकारों ने किया है। मनुष्यजीवन के विभाग शास्त्रीय पद्धति से किये गए हैं। छुटपन में ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन, गुरुसेवा; युवावस्था में गृहस्थाश्रम, गृह-सेवा, कर्मयोग, यज्ञ, दान, तप आदि; उसके बाद वानप्रस्थ याने गृहमुक्त सेवा, और आगे केवल ईश्वरचिंतन। ज्यों-ज्यों इस विषय में विचार करता जाता हूं, त्यों-त्यों मैं विस्मयविमुग्ध हो जाता हूं। ऐसी योजना के बिना भी ज्ञानी लोग जग में संचार करते हैं। पर अज्ञानी लोगों के लिए शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की व्यवस्था कर रखी है। प्रशस्त मार्ग बनने पर आंखवाले के पीछे-पीछे अंधा भी मार्गक्रमण कर सकता है। ऐसा ही एक सुगम मार्ग शास्त्रकारों ने बना रखा है। परम ज्ञानी को यह आवश्यक नहीं कि वह एक-एक सीढ़ी को पार करता जाय। शंकराचार्य ने कहा है कि ऐसे ज्ञानी 'ब्रह्मचर्यादेव' 'कृतसंन्यासाः' होते हैं। बीच की सीढ़ियां—गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम उन्होंने छोड़ दी थीं। पहली सीढ़ी से कूदकर ही वे अंतिम सीढ़ी पर पहुंच गये। शुक, ज्ञानदेव, ईसा इसके उदाहरण हैं। यह योग्यता बड़े भाग्य का लक्षण है। वह महान पुण्य है। ईश्वर की वह कृपा है। तभी वह सिद्ध होता है। ईसा से उसके चेलों ने पूछा—"बिना गृहस्थाश्रम का अनुभव किये, उसमें प्रविष्ट हुए बिना ही क्या आदमी को ऐसी हरिशरणता का ज्ञान हो सकता है?" ईसा ने कहा—"वह तो उन्हींको मिलेगी, जिनको वह ईश्वरदत्त है (To whom it is given)। (यहां विनोबा गद्गद् हो चुप हो गये, आंखों से आंसू बहने लगे।) तो यह पूर्वपुण्य का फल है। लेकिन जो इस पूर्वपुण्य के भागी नहीं हैं और गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम में से होकर आखिरी सीढ़ी तक पहुंच गये उनकी पुण्यवत्ता भी कम नहीं। उनका पूर्वपुण्य भले ही कम रहे, पर इस जन्म का बहुत है। तो ऐसा यह मार्ग हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए प्रशस्त कर दिया है। उसका पुनरुज्जीवन करना है। उसके लिए नितांत उपयुक्त ये मंत्र हैं, उनका उच्चार हम यहां

करेंगे—

१. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

२. सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

सत्य से आत्मलाभ होता है, तप से आत्मलाभ होता है। कोई मारता है तो उसे बरदाश्त करो, कोई गुस्से में भर जाता है तो उससे प्यार से बातें करो। यही तप है। इसीको आजकल अहिंसा कहते हैं। सम्यग् ज्ञान से और ब्रह्मचर्य याने मनोनिग्रह से आत्मदर्शन मिलता है। इन साधनों से होनेवाला आत्मदर्शन कहां होता है? अन्तःशरीरे—अन्दर, अपने शरीर में एक स्थान होता है वहां। ज्यों-ज्यों दोष क्षीण होते जाते हैं त्यों-त्यों उसका दर्शन अस्फुट से स्फुट होता जाता है।

ईश्वर के पास पहुंचने का मार्ग सत्य से बना है। उस मार्ग से जाना कहां है? तो जहां वह सत्य का परम निधान है। वह ईश्वर सत्य का खजाना है, भंडार है। जिस साधन या वाहन से जाना है, वह भी सत्य है। मतलब यह कि मार्ग सत्य, घोड़ा—वाहन—सत्य, और जहां पहुंचना है वह अन्तिम साध्य, वह स्थान भी सत्य ही है। इस प्रकार सत्य ही साधन, सत्य ही मार्ग और सत्य ही मंजिल है। यह है सत्य का मार्ग।

निश्चय या संकल्प करने के लिए जरूरत नहीं कि अमुक आयु पूर्ण हो। जिस दिन सुझाव मिला उसीको शुभ समझकर उसी दिन से संकल्प किया जा सकता है। पर किसी विशिष्ट दिन में चिंतन संभव होता है। स्वाभाविक है कि ६० साल पूर्ण करने पर विशेष चिंतन का अवसर मिला। डा. दातार के लिए और हम सबके लिए ही प्रार्थना करें कि हम सबका जीवन निष्काम सेवा में व्यतीत हो।

शिकारपुर के मार्ग पर,
१ जनवरी १९५८

: ६१ :

लौट आओ

जब मैं बोलना चाहता था या कोई महत्त्व की चर्चा सुनना चाहता था तब विनोबा के साथ पहली कतार में चलता था, अन्यथा भीड़ से दूर दूसरों से बोलता रहता था। आज भी वैसे ही पीछे था। शिकारपुर के लोग स्वागत के लिए आये थे। रास्ते में भीड़ बढ़ती जा रही थी। इसलिए मैं एकदम पीछे था। इतने में गुंडाचारी आये और बोले कि विनोबा आपको याद कर रहे हैं।

धम्मपद हमारा ही ग्रंथ

मैं विनोबा के पास गया। वह बोले—

अब तुम पूना में रहकर काम करो। तुम्हारा काम यहां ठीक नहीं होगा। एक जगह बैठकर उसे करना है। तुम्हें इतने दिन यहां ठहरा लिया, इसलिए कि तुम्हें यात्रा का अनुभव मिले। कोश का काम पूरा करके २६ तारीख को हुबली आ जाओ। धम्मपद के सरल मराठी अनुवाद का काम करेंगे। धम्मपद अपना ही ग्रंथ है। उसे रिक्लेम करना है। उसका रूप भी अपना ही है, अलग कुछ नहीं। तो भी परिभाषा के कारण और गलतफहमी की बदौलत वह उपेक्षित रहा है। उसे अपना रूप दिलाना है, अपना बनाना है।

जैसा पुराण, वैसा कुराण

एक बार बापू को मैंने एक पत्र लिखा था। उसमें लिखा था कि मैं अब कुराण का अध्ययन कर रहा हूं। बापू ने लिखा—हम 'कुरान' लिखते हैं, तुम 'कुराण' क्यों लिखते हो? उसके जवाब में मैंने लिखा कि यह कुरान का हमारा रूप है। जैसा पुराण, वैसा कुराण। वह कुछ पराया नहीं है। आत्मीयता उससे बढ़ जाती है। अपना रूप दिये बगैर वह शब्द आत्मसात् नहीं हुआ करता।

बापू ने यह भी लिखा था—अगर तुम कुराण के अध्ययन के लिए कुछ किताबें वगैरा चाहते हो तो लिखो। मूल अरबी में पढ़ने के पूर्व कुराण के

छः-सात अनुवाद में पढ़ चुका था। पिक्थॉल, अमरअली, मोहम्मदअली, देवबन, शिबली और निज़ामी के किये अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी, मराठी अनुवाद में पढ़ गया था। मुझे ऐसा लगा कि ये अनुवाद मूल धात्वर्थ से दूर ले जा रहे हैं, इसलिए मूल अरबी में उसे पढ़ने का निश्चय मैंने किया।

प्रवेश-द्वार

मैं—गणित, व्याकरण और मनोविज्ञान अन्य सब विद्याओं के प्रवेश-द्वार माने जाते हैं। गणित विज्ञान का, व्याकरण साहित्य का और मनोविज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान का प्रवेश-द्वार है। वैसे ही मुसलमान भाइयों के हृदय में प्रवेश करने के लिए कुराण का ही प्रवेश-द्वार मैं मानता हूं। आपने इसका अध्ययन मूल ग्रंथ से किया सो ठीक ही किया। धम्मपद के द्वारा समूचे बौद्ध जगत में हमारी पैठ होगी। इसलिए मुझे यह काम रोचक और महत्त्वपूर्ण जंचता है। अठारह साल पहले ही धम्मपद का समश्लोकी अनुवाद मैंने किया है। उसमें मेरा उद्देश्य था अपनी वाणी को पवित्र करना।

सब धर्मों का अध्ययन वेदाध्ययन ही

"जगत् के सब धर्मग्रंथ इस प्रकार मैं मराठी में ला रहा हूं। केवल धम्मपद से नहीं तो इस प्रकार के सारे धर्मग्रंथों को मैं रिक्लेम करना चाहता हूं। इसे मैं धर्मसंकीर्तन समझता हूं। धर्म-कार्य ही मानता हूं। '**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत**' यह पुरातन सीख है। मुझे लगता है कि जागतिक धर्मग्रंथों के अध्ययन से उसे मैं कार्यान्वित कर रहा हूं। मतलब कि यह मेरा वेदाध्ययन ही चल रहा है, यह मेरा विश्वास है।" लौटते हुए मेरे मन में यह विचार आया।

शिकारपुर,
१-१-५८